* श्रीः *

दिगम्बर जैन सिद्धांत दर्पण

अर्थात्

प्रो० हीरालाल जी के (मन्तव्यों का निराकरण)

आद्य अंश

लेखक—

श्रीमान् पं० मक्खनलाल जी शास्त्री, मुरेना।

प्रकाशक—

श्री दिगम्बर जैन समाज, बम्बई

[जुहारमल मूलचंद—स्वरूपचंद हुकुमचंद.]

प्रथमवार १५०० | कार्तिक सुदी १ वीर सं० २४७१ | मूल्य स्वाध्याय

अखिल भारतवर्षीय प्राच्य सम्मेलन

१२वां अधिवेशन, बनारस, हिन्दू विश्वविद्यालय।

"प्राकृत और जैनधर्म" विभाग के सन्मुख विचारार्थ

प्रस्तुत विषय

क्या दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों के शासनों में कोई मौलिक भेद है ?

(अध्यक्ष—प्रो० हीरालाल जैन, एम. ए. एल एल. बी.)

जैन समाज के दिगम्बर और श्वेताम्बर ये दो सम्प्रदाय मुख्य हैं। इन सम्प्रदायों में शास्त्रीय मान्यता सम्बन्धी जो भेद है उनमें प्रधानतः तीन बातों में मतभेद पाये जाते हैं। एक स्त्रीमुक्ति के विषय पर, दूसरे संयमी मुनि के लिये नग्नता के विषय पर और तीसरे केवलज्ञानी को भूख प्यास आदि वेदनाएं होती हैं या नहीं इस विषय पर। इन विषयों पर क्रमशः विचार करने की आवश्यकता है।

१—स्त्रीमुक्ति

श्वेताम्बर सम्प्रदाय की मान्यता है कि जिस प्रकार पुरुष मोक्ष का अधिकारी है, उसी प्रकार स्त्री भी है। पर दिगम्बर सम्प्रदाय की कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा स्थापित आम्नाय में स्त्रियों को मोक्ष की अधिकारिणी नहीं माना गया। इस बात का स्वयं दिगम्बर सम्प्रदाय द्वारा मान्य शास्त्रों से कहां तक समर्थन होता है यह बात विचारणीय है। कुन्दकुन्दाचार्य ने अपने

ग्रंथों में स्त्रीमुक्ति का स्पष्टतः निषेध किया है। किन्तु उन्होंने व्यवस्था से न तो गुणस्थान चर्चा की है और न कर्मसिद्धान्त का विवेचन किया है, जिससे उक्त मान्यता से शास्त्रीय चिंतन शेष रह जाता है। शास्त्रीय व्यवस्था से इस विषय की परीक्षा गुणस्थान और कर्मसिद्धान्त के आधार पर ही की जा सकती है। तदनुसार जब हम विचार करते हैं तो निम्न परिस्थिति हमारे सन्मुख उपस्थित होती है—

१—दिगम्बर आम्नाय के प्राचीनतम ग्रन्थ षट्खंडागम के सूत्रों में मनुष्य और मनुष्यनी अर्थात् पुरुष और स्त्री दोनों के अलग अलग चौदहों गुणस्थान बतलाये गये हैं। देखो सत्प्र. सूत्र ६३; द्रव्य प्र. ४६, १२४-१२६; क्षेत्र प्र. ४३, स्पर्शन प्र. ३४-३८, १०२-११०; काल प्र. ६८-८२, २२७-२३५; अन्तर प्र. ५७-७७, १७८-१९२; भाव प्र. २२, ४१, ५३-८०, १४४-१६१)

२—पूज्यपाद कृत सर्वार्थसिद्धि टीका तथा नेमिचन्द्र कृत गोम्मटसार ग्रन्थ में भी तीनों वेदोंसे चौदहों गुणस्थानों की प्राप्ति स्वीकार की गई है। किन्तु इन ग्रन्थों में संकेत यह किया गया है कि यह बात केवल भाववेदकी अपेक्षा से घटित होती है। इसका पूर्ण स्पष्टीकरण अमितगति वा गोम्मटसार के टीकाकारों ने यह किया है कि तीनों भाववेदों का तीनों द्रव्यवेदों के साथ पृथक् पृथक् संयोग हो सकता है जिससे नौ प्रकार के प्राणी होते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि जो मनुष्य द्रव्यसे पुरुष होता है वही तीनों वेदों में से किसी भी

वेद के साथ क्षपक श्रेणी चढ़ सकता है।

३—किन्तु यह व्याख्यान संतोषजनक नहीं है क्योंकि—

(१) सूत्र ९ में जो योनिनी शब्द का उपयोग किया गया है वह द्रव्य स्त्री को छोड़ अन्यत्र घटित ही नहीं हो सकता।

(२) जहां वेद मात्र की विवक्षा से कथन किया गया है वहां ८वें गुणस्थान तक का ही कथन किया गया है, क्योंकि उससे ऊपर वेद रहता ही नहीं है।

(३) कर्मसिद्धान्तके अनुसार वेदवैषम्य सिद्ध नहीं होता। भिन्न इन्द्रिय संबंधी उपांगों की उत्पत्तिका यह नियम बतलाया गया है कि जीवके जिस प्रकार के इन्द्रिय ज्ञान का क्षयोपशम होगा उसीके अनुकूल वह पुद्गलरचना करके उसको उदयमें लाने योग्य उपांगकी प्राप्ति करेगा। चक्षुइन्द्रिय आवरणके क्षयोपशम से कर्ण इन्द्रियकी उत्पत्ति कदापि नहीं होगी और न कभी उसके द्वारा रूपका ज्ञान हो सकेगा। इसी प्रकार जीवमें जिस वेदका बन्ध होगा उसी के अनुसार वह पुद्गलरचना करेगा और तदनुकूल ही उपांग उत्पन्न होगा। यदि ऐसा न हुआ तो वह वेद ही उदयमें नहीं आ सकेगा। इसी कारण तो जीवनभर वेद बदल नहीं सकता। यदि किसी भी उपांग सहित कोई भी वेद उदय में आ सकता तो कषायों व अन्य नोकषायों के समान वेदके भी जीवन में बदलने में कौनसी आपत्ति आ सकती है?

(४) नौ प्रकार के जीवोंकी तो कोई संगति ही नहीं बैठती, क्योंकि द्रव्यमें पुरुष और स्त्रीलिंग के सिवाय तीसरा

तो कोई प्रकार ही नहीं पाया जाता, जिससे द्रव्यनपुंसक के तीन अलग भेद बन सकें। पुरुष और स्त्री वेदमें भी द्रव्य और भाव के वैषम्य माननेमें ऊपर बतलाई हुई कठिनाई के अतिरिक्त और भी अनेक प्रश्न खड़े होते हैं। यदि वैषम्य हो सकता है तो वेद के द्रव्य और भाव भेद का तात्पर्य ही क्या रहा ? किसी भी उपांग विशेष को पुरुष या स्त्री कहा ही क्यों जाय ? अपने विशेष उपांगके बिना अमुक वेद उदय में आवेगा ही किस प्रकार ? यदि आ सकता है तो इसी प्रकार पांचों इन्द्रियज्ञान भी पांचों द्रव्येन्द्रियोंके परस्पर संयोगसे पच्चीस प्रकार क्यों नहीं हो जाते ? इत्यादि।

इस प्रकार विचार करने से जान पड़ता है कि या तो स्त्री-वेद से ही क्षपक श्रेणी चढ़ना नहीं मानना चाहिये, और यदि माना जाय तो स्त्रीमुक्ति के प्रसंग से बचा नहीं जा सकता। उपलब्ध शास्त्रीय गुणस्थान विवेचन और कर्मसिद्धान्त में स्त्री-मुक्तिके निषेध की मान्यता नहीं बनती।

२—संयमी और वस्त्रत्याग

श्वेताम्बर सम्प्रदाय की मान्यतानुसार मनुष्य वस्त्र त्याग करके भी सच गुणस्थान प्राप्त कर सकता है और वस्त्र का सर्वथा त्याग न करके भी मोक्षका अधिकारी हो सकता है। पर प्रचलित दिगम्बर मान्यतानुसार वस्त्र के सम्पूर्ण त्यागसे ही संयमी और मोक्षका अधिकारी हो सकता है। अतएव इस विषय का शास्त्रीय चिन्तन आवश्यक है।

१—दिगम्बर सम्प्रदाय के अत्यन्त प्राचीन ग्रंथ भग-

वती आराधना में मुनि के उत्सर्ग और अपवाद मार्ग का विधान है, जिसके अनुसार मुनि वस्त्र धारण कर सकता है। देखो गाथा (७६-८३)।

२—तत्वार्थसूत्र में पांच प्रकार के निर्ग्रन्थों का निर्देश किया गया है जिनका विशेष स्वरूप सर्वार्थसिद्धि व राजवार्तिक टीका में समझाया गया है। (देखो अध्याय ६ सूत्र ४६-४७)। इसके अनुसार कहीं भी वस्त्रत्याग अनिवार्य नहीं पाया जाता। बल्कि वकुश निर्ग्रन्थ तो शरीर संस्कार के विशेष अनुवर्ती कहे गये हैं। यद्यपि प्रतिसेवना कुशील के मूल गुणों की विराधना न होने का उल्लेख किया गया है, तथापि द्रव्यलिंग से पांचों ही निर्ग्रन्थों में विकल्प स्वीकार किया गया है "भावलिंगं प्रतीत्य पंच निर्ग्रन्था लिंगिनो भवन्ति द्रव्यलिंगं प्रतीत्य भाज्या :(तत्वार्थसूत्र अ० ६ सू० ४७ स० सि०) इसका टीकाकारों ने यही अर्थ किया है कि कभी कभी मुनि वस्त्र भी धारण कर सकते हैं। मुक्ति भी सग्रन्थ और निर्ग्रंथ दोनों लिंगों से कही गई है। "निर्ग्रन्थलिंगेन सग्रन्थ-लिंगेन वा सिद्धिर्भूतपूर्वनयापेक्षया।" (तत्वार्थसूत्र अ० १०, सू० ६, स० सि०)। यहां भूतपूर्वनय का अभिप्राय सिद्ध होने से अनन्तर पूर्व का है।

३—धवलाकार ने प्रमत्त संयतों का स्वरूप बतलाते हुए जो संयम की परिभाषा दी है उसमें केवल पांच व्रतों के पालन का ही उल्लेख है "संयमो नाम हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरि-ग्रहेभ्यो विरतिः।"

इस प्रकार दिगम्बर शास्त्रानुसार भी मुनि के लिये एकान्ततः वस्त्र-त्याग का विधान नहीं पाया जाता। हां कुन्दकुन्दाचार्य ने ऐसा विधान किया है, पर उसका उक्त प्रमाण-ग्रन्थों से मेल नहीं बैठता है।

३--केवली के भूख--प्यासादि की वेदना

कुन्दकुन्दाचार्यने केवलीके भूख प्यासादि की वेदनाका निषेध किया है। पर तत्वार्थसूत्रकारने सबलता से कर्मसिद्धांत अनुसार यह सिद्ध किया है कि वेदनीयोदय-जन्य क्षुधा-पिपासादि ग्यारह परीषह केवली के भी होते हैं (देखो अध्याय ६ सूत्र ८-१७)। सर्वार्थसिद्धिकार एवं राजवार्तिककार ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि मोहनीय कर्मोदयके अभाव में वेदनीयका प्रभाव जर्जरित हो जाता है इससे वेदनाएं केवलीके नहीं होतीं। पर कर्मसिद्धान्त से यह बात सिद्ध नहीं होती। मोहनीय के अभाव में रागद्वेष परिणतिका अभाव अवश्य होगा पर वेदनीय-जन्य वेदना का अभाव नहीं हो सकेगा। यदि वैसा होता तो फिर मोहनीयकर्म के अभाव के पश्चात् वेदनीयका उदय माना ही क्यों जाता? वेदनीय का उदय सयोगी और अयोगी गुणस्थानमें भी आयुके अन्तिम समय तक बराबर बना रहता है। इसके मानते हुए तत्संबंधी वेदनाओं का अभाव मानना शास्त्र सम्मत नहीं ठहरता।

दूसरे, समन्तभद्र स्वामीने आप्तमीमांसामें वीतरागके भी सुख और दुःखका सद्भाव स्वीकार किया है यथा—

पुण्यं ध्रुवं स्वतो दुःखात्पापं च सुखतो यदि।
वीतरागो मुनिर्विद्वांस्ताभ्यां युञ्ज्यान्निमित्ततः ।९३।

१

विद्यावारिधि, वादीभकेसरी, न्यायालंकार धर्मवीर

श्रीमान् पं० मक्खनलालजी शास्त्री

मोरेना (ग्वालियर स्टेट)

* श्री वर्द्धमानाय नमः *

प्रस्तावना

श्रीमद्दिगम्बराम्नातो जैनधर्मः सनातनः ।
उद्भूतो जिनवीरस्य मुखतस्तममाम्यहम् ॥
श्रीमन्तः कुन्दकुन्दाद्या आचार्याः मुनिपुङ्गवाः ।
शान्तिसागरपर्यन्तास्तान् वन्दे भावतोऽधुना ॥
तपोनिष्ठं महाप्राज्ञं स्वैर्ग्रन्थैर्धर्मवर्द्धकम् ।
सुधर्मसागराचार्यं वन्देऽहं साधुपाठकम् ॥

शासन-भेद और नई खोज का विचित्र ढंग

वर्तमान युग और इससे थोड़े समय पूर्व के युग में कई प्रकार से बहुत बड़ा परिवर्तन हो चुका है। आज से करीब ५०–६० वर्ष पहले समाज में इतनी शिक्षा का प्रचार नहीं था, जितना कि अब हो रहा है। आज अनेक विद्वान् उच्च कोटि का अध्ययन कर समाज में कार्य कर रहे हैं। पहले समय में इतने विद्वान् नहीं थे, परन्तु पहले के पुरुष कम ज्ञानी होते हुए भी आगम एवं अपने ध्येय पर दृढ़ रहते थे। आज के अनेक विद्वान् उक्त दोनों बातों में शिथिल पाये जाते हैं। इसके साथ आज-कल कर्मण्यता और नवीन २ योजनाओं का वेग के साथ प्रसार हो रहा है।

कोई भी नवीन स्कीम रची जानी चाहिये, कोई भी नई बात प्रकट करनी चाहिये, जिससे समाज में उत्तेजना पैदा हो, सामयिक प्रगति की ओर झुकाव हो। चाहे इस प्रकार की उत्तेजना-पूर्ण कार्य-प्रणाली से आगम की मर्यादा नष्ट होती हो, चाहे सच्चे हित से समाज दूर होती हो; इसकी उन्हें चिन्ता नहीं है। ऐसे लोगों का ध्येय और कार्य-क्षेत्र पुरातन आचार्यों के मार्ग का अनुसरण करे, यह तो लम्बी बात है, किन्तु उनके प्रतिपादित मार्ग से सर्वथा विपरीत मार्ग का प्रदर्शक बनता है।

इसका कारण विचार-स्वातन्त्र्य एवं श्राद्धिक भावों की कमी है। इन सब बातों से कोई भी विचार-शील विद्वान् यह परिणाम सहज निकाल सकता है कि पहले शिक्षाकी कमी रहने पर भी समाज का सच्चा हित था। वर्तमान में शिक्षा के आधिक्य में भी समाज का उतना हित नहीं है, प्रत्युत हानि है।

इसी प्रकार; वर्तमान का तत्वज्ञान-प्रसार अथवा साहित्य-प्रसार पुरातन महर्षियों के तत्वज्ञान एवं साहित्य-प्रसारसे सर्वथा जुदा है। उस समयका साहित्य जनताकी हित-कामना से रचा जाता था, उसे यथार्थ तत्त्व-बोध हो और वह सन्मार्ग पर आरूढ़ होकर अपने हित-साधन में लग जाय, इसी पवित्र उद्देश्य एवं सद्भावना से महर्षियों ने शास्त्र-रचना की थी, आज वे ही शास्त्र लोक का कल्याण कर रहे हैं।

परन्तु वर्तमान साहित्य-प्रसार एक ऐसी अद्भुत खोज है जो अन्वेषक खोजी विद्वान्का पाण्डित्य प्रदर्शन करनेके साथ समाज को भी समालोचक कोटिमें खींच ले जाती है। और वहां स्व-बुद्धि-गम्य तर्क-वितर्कों के प्रवाह में श्राद्धिक भावों की इति श्री हो जाती है। इस प्रकार की खोज से कोई भी व्यक्ति रत्नत्रय की साधना में लगा हो अथवा देव-शास्त्र, गुरु-भक्ति और उनकी पूजा आदि धार्मिक क्रिया-काण्ड में अधिक रुचिवान बना हो, ऐसा एक भी उदाहरण नहीं मिलेगा। प्रत्युत उससे रत्नत्रय की विराधना तथा जिन मन्दिरनिर्माण, बिम्ब प्रतिष्ठा विरोध, मुनियोंमें अश्रद्धा आदि अनेक उदाहरण उपस्थित हैं।

इतिहास की खोज और शासन-भेद का नया मिशन

वर्तमान में इतिहास-खोज का एक नया आविष्कार हो रहा है। वर्षों समय और बहु द्रव्य-साध्य सामग्री तथा शक्ति का उपयोग इसी ऐतिहासिक खोज में लगाया जा रहा है। यह खोज-विभाग, एक नया मिशन है। इस मिशनका उद्देश्य यही प्रतीत होता है कि जो आचार्य अथवा शास्त्र इनके मन्तव्य के विरोधी हों उन्हें अप्रमाण ठहरा कर अमान्य ठहराया जाय। इसी लक्ष्य के आधार पर अनेक आचार्यों को अमान्य ठहराने की विफल चेष्टाएं भी की गई हैं। अमान्य ठहराने की यह नीति रक्खी गई है कि अमुक आचार्य अमुक के पीछे हुए हैं अथवा अमुक सदी में हुये हैं।

इस लिये उसके पहले के ही प्रमाणभूत हैं, पीछे के नहीं। 'आचार्यों की अप्रामाणिकता से उनकी शास्त्र-रचना भी अप्रमाण है' यह फलतः सिद्ध है।

इस प्रकार की ऐतिहासिक खोज में वे लोग सहर्ष भाग लेते हैं जो विचार-स्वातन्त्र्य रखते हैं। परन्तु इस प्रकार की खोज में प्रमाणता की कोई कसौटी नहीं है। उसके हेतु-वाद में कोई समीचीनता नहीं है। केवल अन्वेषकों की आनुमानिक (अंदाजिया) बातें हैं। "हमारी समझ से ऐसा मानना चाहिये। अमुक आचार्य अमुक समय के होने चाहियें" बस इसी प्रकार की संदिग्ध लेखनी द्वारा वे टटोलते फिरते हैं। कोई निश्चित बात न तो वे कह सकते हैं और न वर्तमान इतिहास की पद्धति किसी निश्चित सिद्धान्त तक पहुंच ही पाती है।

खोज किसी बात की बुरी नहीं है किन्तु आचार्य परम्परागत वस्तु-व्यवस्था के विरुद्ध स्वबुद्ध्यनुसार स्वमन्तव्य की स्थापना और उसका प्रचार बुरा है। वर्तमान में यही हो रहा है। अन्यथा बताइये कि भगवान् ऋषभदेव हुए हैं और उनके असंख्यात वर्षों पीछे अजितनाथ हुए हैं इत्यादि व्यवस्था की सिद्धि वर्तमान पद्धति के इतिहास से किस प्रकार सिद्ध की जा सकती है? इसकी सिद्धि के लिये न तो कोई शिलालेख मिलेगा और न कोई ताम्रपत्र या पुरातन चिन्ह आदि ही मिलेगा। इनकी सिद्धि के लिये हमारे यहां तो

पुराण शास्त्र हैं। उनके आधार पर हम उन सब बातों को प्रमाणभूत समझते हैं। दूसरे चरणानुयोग, करणानुयोग शास्त्र हैं वे सब उस प्रकार की वस्तु-व्यवस्था के परि-चायक हैं।

जहां वीतरागी आचार्यों ने अपनी अत्यन्त सरल-निरभिमान कृति से स्वरचित गम्भीर से गम्भीर शास्त्रों में भी संवत् आदि का उल्लेख तक नहीं किया है, यहां तक कि किन्हीं किन्हीं आचार्यों ने अपना नाम तक नहीं दिया है, वहां आज उस शास्त्र के तत्व सिद्धान्त को छोड़कर केवल उसके सम्वत् की आगे-पीछे की खोज बना कर उन शास्त्रों एवं उनके रचयिताओं को अप्रमाण ठहराया जाता है? यह क्या तो खोज है? और क्या पाण्डित्य है? और क्या सदुपयोग रूप इसका फल है? इन बातोंपर अनेक विद्वान् नहीं सोचते हैं। गतानुगतिक बनकर वे भी एक नया आविष्कार समझकर उस की पुष्टि में अपनी भक्तिपूर्ण श्रद्धाञ्जलियां प्रगट करते हैं।

प्रकरणवश इस प्रकार की साहित्य-खोज की शैली का एक नमूना हम यहां पर उपस्थित करते हैं—

दो वर्ष हुए हम कार्यवश नागपुर गये थे। हमारे साथ श्री सेठ तनसुखलाल जी काला बम्बई भी थे। खंडेलवाल दि० जैन विद्यालय में श्री पं० शांतिराज जी न्याय काव्यतीर्थके पास एक विद्वान् न्यायतीर्थ बैठे थे। परिचयमें उन्होंने कहा "कि एक वर्षसे मैं सम्यग्दर्शनपर खोजपूर्ण इतिहास लिख रहा हूं

कि किस समय पर और किस आचार्य ने सम्यग्दर्शन का क्या लक्षण माना है।" हमने उनसे यह पूछा कि एक वर्ष की खोज में आपने सम्यग्दर्शन के लक्षण में समय भेद और आचार्य भेद से कोई भेद पाया क्या? वे बोले कि "अभी खोज समाप्त नहीं हुई है। अन्तमें निष्कर्ष निकल सकता है।"

इस प्रकार की खोज से यह परिणाम भी निकाला जा सकता है कि जो सम्यग्दर्शन का लक्षण 'तत्वार्थश्रद्धान रूप' है। उसके स्थान में तर्क–वितर्क एवं परीक्षापूर्वक वस्तु को ग्रहण किया जाय ऐसा कोई लक्षण भी मिल जाय तो फिर सम्यक् मिथ्यात्व का विकल्प ही उठ जाय। वैसी अवस्था में आगम का बन्धन बाधक नहीं होकर विचार–स्वातन्त्र्य–क्षेत्र बहुत विस्तृत बन सकता है।

हमारे वीतराग महर्षियों ने सर्वज्ञ–प्रणीत, गणधर–कथित, आचार्य परम्परागत एवं स्वानुभव–सिद्ध तत्वों का ही विवेचन किया है। इस लिये उन्हें यदि परीक्षा की कसौटी पर रक्खा जाय तो वे और भी दृढ़ता एवं मौलिकता को प्रगट करते हैं। परन्तु परीक्षा करने की पात्रता नहीं हो तो उन सिद्धांतों को शास्त्रों की आज्ञानुसार ग्रहण करना ही बुद्धिमत्ता है। यथा—

सूक्ष्मं जिनोदितं तत्वं हेतुभिर्नैव हन्यते।
आज्ञासिद्धञ्च तद्ग्राह्यं नान्यथा-वादिनो जिनाः॥

अर्थात्—जिनेन्द्रदेव द्वारा कहे हुए तत्व सूक्ष्म हैं।

हेतुओं से उनका खण्डन नहीं हो सकता है। इस लिये उन्हें सर्वज्ञ-आज्ञा समझ कर ग्रहण कर लेना चाहिये। क्योंकि वीतराग सर्वज्ञ के कथनमें अन्यथापना कभी नहीं आ सकता है।

. आजकल शासन-भेदके नाम से आचार्योंकी रचना में परस्पर मत-भेद सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है। आज ग्रन्थान्तरों में ग्रन्थान्तरों के श्लोकों को देखकर उन्हें झट क्षेपक बताकर अमान्य ठहरा दिया जाता है, ऐसा करना भयंकर बात है। अनेक ग्रन्थों में आचार्यों ने सरलता से प्रकरण के श्लोक दूसरे ग्रन्थों के लिये हैं, इसके अनेक प्रमाण हैं। गोम्मटसार में ही आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती ने अनेक गाथायें दूसरे आचार्योंकी रख दी हैं, तो क्या क्षेपक कहकर वे अमान्य ठहराई जा सकती हैं ? कभी नहीं। परन्तु पाठकोंको यह बात ध्यानमें रखना चाहिये कि न तो वीर-शासनमें कोई भेद पाया जाता है और न आचार्योंकी रचनामें परस्पर कोई मत-भेद है। किन्तु झूठे एवं निराधार प्रमाणों से वे सब बातें सिद्ध की जाती हैं। वास्तवमें कोई बात जब रहस्यज्ञ एवं तत्व-मर्मज्ञ विद्वानों की विचारश्रेणी में आती है तो फिर वीर-शासन का भेद और आचार्यों का मत-भेद निःसार एवं बालू पर खड़ी की गई दीवाल के समान निराधार प्रतीत होता है।

इस बात पर भी विद्वानों को ध्यान देना चाहिये कि

इस प्रकार के शासन-भेद और आचार्यों के मत-भेद की खोज या चर्चा किसी शास्त्र में भी पाई जाती है क्या ? किसी आचार्य ने किसी आचार्य की समालोचना की हो, किसी ने किसी शास्त्र के श्लोकों को क्षेपक कहकर अप्रमाण बताया हो, किसी ने किसी के मत को अमान्य ठहराया हो, किसीने वीर-शासनमें भेद बताया हो तो प्रगट किया जाय ? शास्त्रोंमें तो सभी आचार्योंने अपने पूर्व के आचार्यों को शिरोधार्य कर उन की रचना को आधार मान कर ही अपनी रचना की है। इस बात के प्रमाण तो प्रत्येक शास्त्र में देखे जाते हैं। दृष्टान्त के लिये एक श्लोक देना ही पर्याप्त है। यथा—

> प्रभेन्दु-वचनोदार-चन्द्रिका-प्रसरे सति ।
> मादृशाः क नु गण्यन्ते ज्योतिरिंगण-सन्निभाः ॥

प्रमेय रत्नमाला के रचयिता आचार्य अनन्तवीर्य प्रमेय कमल-मार्तण्ड के रचयिता आचार्य प्रभाचन्द्र के लिये लिखते हैं कि "आचार्य प्रभाचन्द्र रूपी चन्द्रमाकी जहां उदार वचन रूपी चांदनी फैल रही है वहां खद्योत (जुगनू) के समान चमकने वाले मेरे सरीखे की क्या गणना हो सकती है ?" कितनी लघुता और महती श्रद्धा-पूर्ण मान्यता का उल्लेख है ? बस इसी प्रकार की मान्यता उत्तरोत्तर सभी आचार्यों की है। आदि पुराण के रचयिता श्री भगवज्जिनसेनाचार्य ने ग्रन्थ के आदि में सभी आचार्यों को श्रद्धाभक्ति के साथ स्मरण और नमन किया है। यही प्रक्रिया सभी शास्त्रों में पाई जाती

है। अस्तु। वीर-शासनभेद का ही यह परिणाम है कि आज कोई विद्वान सर्वज्ञ को समस्त पदार्थों का ज्ञाता नहीं बताते हैं। सर्वज्ञ की व्याख्या वे निराली ही करते हैं, इस प्रकरण पर यहां पर हम कुछ भी प्रकाश डालना नहीं चाहते हैं, वह एक विषयान्तर, एक स्वतन्त्र विस्तृतलेख का विषय है। परन्तु सर्वज्ञ लक्षण-प्रतिपादक समस्त शास्त्रों से विरुद्ध यह भी एक सैद्धान्तिक विचित्र खोज का नमूना है।

प्रो० सा० की, फूंकसे पहाड़ उड़ानेकी विफल चेष्टा

प्रो० हीरालाल जी ने जो अपने स्वतन्त्र मन्तव्य प्रगट किये हैं। वे भी उसी प्रकार की ऐतिहासिक, सैद्धान्कि खोज एवं शासनभेदकी-सामयिक लहरके ही परिणामस्वरूप हैं। उन के मन्तव्योंका हमने अपने इस ट्रैक्टमें विस्तृत रूपसे सहेतुक, सयुक्तिक एवं सप्रमाण प्रतिवाद किया है। यद्यपि हमारी यह इच्छा थी कि वे अपने मन्तव्यों का समक्ष में बैठकर ही विचार कर लेवें क्योंकि लेख-प्रतिलेख में लंबा समय लगने के साथ साधारण जनता उलझन में पड़ जाती है। इसी लिये हमने श्री० कुंथलगिरि सिद्धक्षेत्र पर जगद्वन्द्य, चारित्र-चक्रवर्ती, परम पूज्य श्री १०८ आचार्य शिरोमणि शांतिसागर जी महाराज की नायकता में इन विषयों पर विचार करने की अनुमति प्रो० सा० को दी थी। हमने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि समक्ष में विचार बहुत शान्ति के साथ होगा, और श्री आचार्य चरण सान्निध्य शान्ति और विचार में पूर्ण सहायक

होगा। यह विषय समाचार पत्रों में आ चुका है। अस्तु

प्रो० सा० ने सिद्धांत-शास्त्रों का सम्पादन किया है। हम समझते थे कि उनका शास्त्रीय एवं तात्विक बोध अच्छा होगा। परन्तु उनके वक्तव्यों को पढ़कर हमें निराशा हुई। उनकी लेखनी में भी हमें विचार एवं गम्भीरता का दिग्दर्शन नहीं हुआ। विद्वानों को जहां एक साधारण बात भी विचार-पूर्वक प्रगट करना चाहिये, वहां मूल सिद्धान्तों के परिवर्तनकी बात तो बहुत विचार, मनन, खोज एवं प्रमाणों की यथार्थता की पूर्ण जानकारी प्राप्त करके ही प्रगट करनी चाहिये। परन्तु खेदके साथ लिखना पड़ता है कि भगवत्कुन्दकुन्दाचार्य, आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती, आचार्य अकलंक देव, आचार्य पूज्यपाद जैसे दि० जैन धर्म के सूर्य-सदृश प्रकाशक महान महान आचार्यों को भी प्रो० सा० ने कर्म-सिद्धांत एवं गुण-स्थान-चर्चा के अजानकार तथा अमान्य सहसा ठहरा दिया है। इसी प्रकार धवल सिद्धान्त आदि शास्त्रों के प्रमाणों को भी विपरीत रूप में प्रगट किया है। उन्होंने यह नहीं सोचा कि इतनी बड़ी बात बिना किसी आधार और विचार के प्रसिद्ध करने से समाज में उसका क्या मूल्य होगा?

स्त्री-मुक्ति, सवस्त्र-मुक्ति और केवली के क्षुधादि की वेदना अथवा कवलाहार को सिद्ध करने का प्रयास प्रो० सा० का इसी उद्देश्य से किया गया प्रतीत होता है कि वे श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदायों में एकीकरण करना चाहते हैं और

इसी लक्ष्य से उन्होंने अपने लेख का शीर्षक—"क्या दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायोंके शासनोंमें कोई मौलिक भेद है ?" यह दिया है।

इस शीर्षक से उन्होंने स्त्री-मुक्ति आदि बातों की श्वेताम्बर मान्यता को दिगम्बर शास्त्रों से भी सिद्ध करने का प्रयास कर यह बात भी दिखला दी है कि जब दिगम्बर सम्प्रदाय में भी स्त्री-मुक्ति, सवस्त्र-मुक्ति और केवली-कवलाहार उस सम्प्रदाय के शास्त्रों द्वारा मान्य है। तब दोनों सम्प्रदायों में वास्तवमें कोई भेद नहीं है।

हमारी समझ से तो उन्होंने फूंक से पहाड़ उड़ाना चाहा है। नहीं तो ऐसा असम्भव प्रयास वे नहीं करते। दि० जैनधर्म आगम-प्रमाण के साथ हेतुवाद, युक्तिवाद एवं स्वानुभवगम्य भी है। उसके अकाट्य सिद्धान्त सर्वज्ञ द्वारा प्रतिपादित हैं। यह बात कहने एवं समझने मात्र नहीं है, किन्तु वस्तु स्वरूप स्वयं उसी रूप में परिणत है। वह वस्तु-व्यवस्था ही इस बात का परिचय कराती है कि दि० जैन धर्म यथार्थ है, अत एव वह सर्वज्ञ-प्रतिपादित है। दि० जैन धर्म को शास्त्र रूप में प्रणयन करने वाले गणधरदेव चार ज्ञान के धारी थे। इस लिये उन्होंने सर्वज्ञ प्रतिपादित वस्तु स्वरूप का स्वयं प्रत्यक्ष अनुभव भी किया है। उसी को आचार्य प्रत्याचार्य परम्परा ने कहा है। आजकल का विज्ञान-वाद (Science) भी वहीं तक सफल होता है जहां तक कि

दि० जैनधर्म के अनुसार गमन करता है। यदि वह वस्तु-स्वरूप से विरुद्ध—असम्भव को सम्भव बतलाने लगता है तो वहां वह विफल ही रहता है। दि० जैनधर्म ने जिस प्रकार पुद्गल को क्रियात्मक एवं अचिन्त्य शक्तिवाला माना है। साथ ही पृथ्वी, जल, तेज, वायु आदि उसकी अनेक रूप परिणमन करने वाली मिश्रित पर्यायें बताई हैं। शब्द को भी पौद्गलिक बताया है। उसी का फल आज वर्तमान विज्ञान द्वारा विद्युत शक्ति के विकाश रूप में वायुयान (ऐरो-प्लेन), वायरलेस (बिना तार का तार) आदि कार्य दिखाये जा रहे हैं। परन्तु मृत शरीर में पुनः जीव आ जाय या पैदा हो जाय यह असम्भव प्रयोग कोई विज्ञान न तो आज तक सिद्ध कर सका है और न कर सकेगा। यह निश्चित बात है। इसी प्रकार द्रव्य गुण पर्यायों की व्यवस्था, गुण-स्थान और मार्गणाओं के आत्मीय भाव एवं अवस्थाओं के भेद, लोक-रचना रूप करणानुयोग, गृहस्थों व साधुओं का स्वरूप-भेद, ये सब बातें वस्तु-स्थिति की परिचायक हैं। इनके सिवा अत्यन्त सूक्ष्म एवं कालभेद, देशभेदसे परोक्ष ऐसा अनन्त पदार्थ समूह है जिसका ज्ञान एवं विचार हमारी तुच्छ बुद्धि के सर्वथा अगम्य है। परन्तु जो स्थूल है वह हमारे स्वानुभवगम्य भी है। इसी से दि० जैनधर्म और जैनआगम की यथार्थता वस्तु-स्वरूप से सिद्ध होती है।

जब कि वस्तु-स्वभाव का प्रतिपादक यह धर्म है तब

वस्तुओं की अनादिता से यह धर्म भी अनादि है। अनिधन है। क्योंकि द्रव्य सभी द्रव्य-दृष्टि से नित्य हैं। युग २ में तीर्थंकर होते हैं। वे अपने उपदेश से सन्मार्ग का प्रसार कर भव्यात्माओं को मोक्षमार्गपर लगाते हैं। मोक्षमार्ग, मोक्ष स्वरूप के समान सदैव एक रूप में नियत है, उसमें कभी कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हो सकता है। अणुव्रत, महाव्रत, दशधर्म, समिति, गुप्ति, उपशम श्रेणी, क्षपक श्रेणी, मूल गुण आदि का जो स्वरूप आत्मीय विशुद्धि एवं कर्मों की बादर कृष्टि एवं सूक्ष्मकृष्टि रचना द्वारा अनंत गुणी हीन शक्ति का होना आदि सब सिद्धांत एक रूप में ही रहते हैं। केवल मान्यता पर वस्तु-सिद्धि नहीं हो सकती है। किन्तु वस्तु की यथार्थ व्यवस्था से वह होती है। इस लिये दि० जैनधर्म की मौलिकता अनादि निधन है। टंकोत्कीर्णवत् अचल एवं सुमेरुवत् दृढ़ है। किन्तु पात्रता के अनुसार ही उसकी यथार्थ श्रद्धा पहचान और प्राप्ति हो सकती है। अन्यथा नहीं।

इस लिये स्त्री-मुक्ति, सवस्त्र-मुक्ति और केवली-कवलाहार आदि बातों से किसी प्रकार भी दि० जैनधर्म में श्वेताम्बर मान्यता के समान कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हो सकता है।

दिगम्बर धर्म में श्वेताम्बरों की मौलिकताओं का समावेश असम्भव है।

हां श्वेताम्बर सम्प्रदाय की मान्यताएँ और भी अनेक

हैं और वे बहुत ही विचित्र हैं जैसे—

भगवान महावीर स्वामी पहले देवानन्दा ब्राह्मणी के गर्भ में आये थे। इन्द्र ने उन्हें उसके गर्भ से निकलवा कर त्रिशला रानी के गर्भ में रक्खा। और त्रिशलारानी के गर्भ में जो पुत्री थी उसे देवानन्दा के पेट में रखवा दिया। यह गर्भस्थ बालकों के बदलने का कार्य गर्भ धारण के ८२ दिन पीछे किया गया। कल्पसूत्र में इसका उल्लेख है।

पाठक विचार करें कि क्या यह सम्भव हो सकता है कि इस प्रकार गर्भस्थ बालक बदल दिये जावें? यह बात तो कार्य-कारण-पद्धति, कर्म-व्यवस्था एवं वस्तु-व्यवस्था से सर्वथा विपरीत अतएव असम्भव है।

इसी प्रकार भगवान ऋषभदेव की माता मरुदेवी जब हाथी पर चढ़ कर भरत चक्रवर्ती के साथ भगवान ऋषभदेव के समवशरणमें जा रही थीं तब दूरसे समवशरण की विभूति को देखकर वैराग्य भावों की जागृति से हाथी पर चढ़े हुए ही उन्हें केवलज्ञान हो गया और आयुक्षय होने से हाथी पर चढ़े हुए ही उन्हें मोक्ष हो गई।

यह कथा कल्पसूत्र की है।

इस प्रकार का केवलज्ञान और मोक्ष तो बहुत ही सस्ता सौदा है जो बिना किसी तपश्चरण और त्याग के हाथी पर चढ़े चढ़े ही हो जाता है। तीसरी विचित्र बात यह है कि भगवान महावीर स्वामी को छह महीना तक पेचिस का

रोग हो गया और उस रोग से उन्हें बराबर दस्त होते रहे। पीछे उनके शिष्य सिंह मुनि ने महावीर स्वामी के कहने से रेवती के घर से बासा कुक्कुट मांस लाकर महावीर स्वामी को दिया। महावीर स्वामी ने उसे खा लिया, तब उनका पेचिस रोग भी दूर हो गया। यह सब वर्णन उस सम्प्रदाय के भगवती सूत्र में है।

जहां दिगम्बर धर्म में एक जघन्य श्रावक भी मांस-भक्षण नहीं कर सकता है। जहां मांस-भक्षण है, वहां दि० धर्म के अनुसार जैनत्व ही नहीं है, वहां दूसरा सम्प्रदाय तेरहवें गुणस्थानवर्ती अर्हंतकेवली भगवान महावीर स्वामी के भी पेचिस का रोग और अभक्ष्य-भक्षण बताता है।

क्या प्रो० सा० श्वेताम्बर सम्प्रदाय के उक्त शासन की मौलिकता को भी दिगम्बर सम्प्रदाय के शासन में समावेश करने का दिगम्बर शास्त्राधार से कोई उपाय बताते हैं? यदि नहीं, तो फिर दोनों सम्प्रदायों के शासनों का आकाश पाताल के समान अन्तर रखने वाला मौलिक भेद, दोनों के एकीकरण में किस प्रकार सफलता दिला सकता है? अर्थात् जब दोनों सम्प्रदायों की मान्यताएँ सर्वथा एक-दूसरे से विभिन्न हैं तब उन दोनों में सैद्धान्तिक दृष्टि से एकीकरण सर्वथा अशक्य है।

हां व्यावहारिक दृष्टि से दोनों सम्प्रदायों में एक-दूसरे के प्रति सद्भावनाएँ, एवं परस्परमें निश्छल प्रेमभावना

रखना आवश्यक है।

इस ट्रैक्ट में हमने श्वेताम्बर सम्प्रदायके शास्त्राधार से किसी भी विषय पर विचार कुछ नहीं किया है और न उस की आवश्यकता ही समझी है। किन्तु प्रो० सा० ने जिन दिगम्बर शास्त्रों से स्त्री-मुक्ति आदि का विधान समझा हुआ है, उन्हीं पर विचार किया है और दिगम्बर शास्त्रों से ही उन मान्यताओं का प्रतिवाद किया है। श्वेताम्बर मान्यतायें कुछ भी हों, हमें उनसे कोई प्रयोजन नहीं हैं। ऊपर तो उस सम्प्रदाय की कतिपय विचित्र मान्यताओं का उल्लेखमात्र किया गया है वह इसी बात के सिद्ध करने के लिये किया गया है कि दोनों में सैद्धान्तिक दृष्टि से एकीकरण सर्वथा असम्भव है, जिसे कि प्रो० सा० करना चाहते हैं।

बम्बई पञ्चायत की जागरूकता

धर्मपरायण दि० जैन पंचायत बम्बई तथा उसके सुयोग्य अध्यक्ष श्रीमान् रा० ब० सेठ जुहारमल मूलचन्द जी महोदय ने प्रो० सा० के मन्तव्यों के साथ पत्र भेजकर इस ट्रैक्ट के लिखने के लिये हमें प्रेरित किया है। साथ में प्रतिष्ठित एवं प्रौढ़ विद्वान् श्रीमान् पं० रामप्रसादजी शास्त्री तथा श्री० सेठ निरंजनलाल जी ने भी अपने २ पत्रों द्वारा प्रेरित किया है। हम इस प्रकार की धार्मिक चिन्ता और लगन के लिये उन सबों को हार्दिक धन्यवाद देते हैं। क्योंकि यदि वे हमें प्रेरित नहीं करते तो सम्भव है अनेक अन्य कार्यों के

बाहुल्य से इतनी जल्दी इस ट्रैक्ट के लिखने में हम तत्पर नहीं होते। प्रो० सा० के मन्तव्यों पर समाज के विद्वानों की आगम व युक्तिपूर्ण निर्णायक सम्मतियों को छपाकर उस पुस्तक को सर्वत्र पंचायतों व भण्डारों को भेजा जाय ऐसा बम्बई पंचायत का विचार व कार्य बहुत ही स्तुत्य एवं धर्म-रक्षण का साधक है।

धर्मरत्न जी की धर्म-चिन्ता

प्रो० सा० के मन्तव्यों को पढ़कर हमारे पूज्य भ्राता श्रीमान धर्मरत्न पं० लालाराम जी शास्त्री को बहुत खेद और चिन्ता हुई, उन्होंने तत्काल ही हमें आज्ञापित किया कि "इन मन्तव्यों का सप्रमाण एवं सयुक्तिक खण्डन बहुत शीघ्र करो, यह कार्य धर्मरक्षा का है"। इस आज्ञा के साथ उन्हों ने इस ट्रैक्ट में महत्वपूर्ण सहायता देने वाले कुछ सैद्धान्तिक फुटनोट भी हमारे पास भेज दिये।

उनसे इसी प्रकार आज्ञापूर्ण शुभाशीर्वाद की सर्वदा चाहना करते हैं।

श्री गो० दि० जैनसिद्धान्त विद्यालय,
मोरेना (ग्वालियर)
श्रावणी १५ वी० नि० सं० २४७०

विनीत—
मक्खनलाल शास्त्री

प्रोफेसर साहिब के मन्तव्यों की

अप्रामाणिकता

अरहन्त-भासियत्थं गणधरदेवेहिं-गंथियं सव्वं ।
पणमामि भत्तिजुत्तो सुदणाणमहो वयं सिरसा ॥

दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों में सैद्धान्तिक एकीकरण असम्भव है।

प्रोफेसर हीरालाल जी एम० ए०, एल एल० बी० ने अखिल भारत व प्राच्य-सम्मेलन, हिन्दू-विश्व-विद्यालय बनारस के १२वें अधिवेशन में दिये गये अपने मुद्रित वक्तव्य द्वारा "क्या दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों के शासनों में कोई मौलिक भेद है ?" इस शीर्षक से स्त्री मुक्ति, सवस्त्र मुक्ति और केवली कवलाहार, इन तीन बातों को सिद्ध करने का प्रयास किया है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय उक्त तीनों बातों को

स्वीकार करता है। उसकी मान्यता के अनुसार स्त्री पर्याय से उसी भव से मुक्ति होती है, संयमी मुनि वस्त्र पहने हुए ही मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं तथा श्री अर्हन्त परमेष्ठी केवली भगवान भी कवलाहार करते हैं, अर्थात्-भूख प्यास की बाधा उन्हें भी सताती है अतः उसे दूर करने के लिये वे भोजन करते हैं। दिगम्बर जैन धर्म इन तीनों बातों को सर्वथा नहीं मानता है। यह दि० जैनधर्म, वीतराग धर्म है इस वीतराग धर्म में स्त्री-मुक्ति, सवस्त्र मुक्ति और केवली कवलाहार इन तीनों बातों को किञ्चिन्मात्र भी स्थान नहीं है। कारण, गुण-स्थान रूप भावोंकी विशुद्धि और कर्म सिद्धान्त रूप मार्गणाओं की रचना ही ऐसी है कि वह उक्त तीनों बातों को मोक्ष प्राप्ति के लिये सर्वथा अपात्र समझती है। उसका मूल कारण यही है कि इस धर्म में वीतरागता की ही प्रधानता है। बिना उसके संयम की प्राप्ति एवं आत्म विशुद्धि नहीं हो सकती है। मोक्ष प्राप्ति के लिये परिपूर्ण विशुद्धि एवं परिपूर्ण वीतरागता का होना परमावश्यक है। स्त्री पर्याय और सवस्त्रावस्था में उस प्रकार की विशुद्धि तथा वीतरागता बन नहीं सकती, तथा केवली भगवान के कवलाहार यदि माना जाय तो वे भी वीत-रागी एवं परम विशुद्ध नहीं बन सकते, कवलाहार अवस्था में उनके तेरहवां गुणस्थान तथा अर्हन्त परमेष्ठी का स्वरूप ही नहीं रह सकता है।

परन्तु प्रो० हीरालालजी उक्त तीनों बातों को सप्रमाण

सिद्ध करते हैं। इसके सिवा वे आचार्य शिरोमणि भगवान कुन्दकुन्द स्वामी को भी अमान्य ठहराते हैं। प्रो० सा० अपने लेख में स्पष्ट रूप से लिखते हैं कि स्त्री-मुक्ति और केवली कवलाहार आदि इन बातों का खण्डन कुन्दकुन्द स्वामी ने किया है परन्तु उनका यह खण्डन दूसरे उमा-स्वामी आदि आचार्यों से नहीं मिलता है अर्थात्-दूसरे उमास्वामी आदि आचार्य उन तीनों बातों का विधान करते हैं। प्रो० सा० यह भी लिखते हैं कि गुणस्थान चर्चा और कर्म सिद्धान्त विवेचन की कोई व्यवस्था कुन्दकुन्दाचार्य ने नहीं की है इस लिये शास्त्रीय चिन्तन से उनका कथन अधूरा है। अर्थात् गुणस्थान और कर्म व्यवस्था के आधार पर शास्त्रीय प्रमाणों से स्त्री-मुक्ति, सवस्त्र-मुक्ति और केवली कवलाहार ये तीनों ही बातें सिद्ध हो जाती हैं परन्तु इन बातों का निषेध करने वाले कुन्दकुन्दाचार्य ने गुणस्थान और कर्म सिद्धान्त व्यवस्था का कोई विचार नहीं किया है प्रो० सा० के इस कथन से भगवान कुन्दकुन्द स्वामी की गुणस्थान और कर्म सिद्धान्त के विषय में अज्ञानकारी सिद्ध होती है। अथवा उन्होंने गुणस्थान और कर्म सिद्धान्त के विरुद्ध तथा शास्त्रों के विरुद्ध अपने द्वारा स्थापित आम्नाय में स्त्री-मुक्ति अधिकार आदि को नहीं माना है। इस बात की पुष्टि प्रो० सा० ने इन पंक्तियों में की है—

"दिगम्बर सम्प्रदाय की कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा स्थापित आम्नाय में स्त्रियों को मोक्ष की अधिकारिणी नहीं मानी गया,

इस बात का स्वयं दिगम्बर सम्प्रदाय द्वारा मान्य शास्त्रों से कहां तक समर्थन होता है यह बात विचारणीय है, कुन्दकुन्दाचार्य ने अपने ग्रन्थों में स्त्री-मुक्ति का स्पष्टतः निषेध किया है किन्तु उन्होंने व्यवस्था से न तो गुणस्थान चर्चा की है और न कर्म सिद्धांत का विवेचन किया है जिससे उक्त मान्यता का शास्त्रीय चिंतन शेष रह जाता है।"

केवली भगवान के कवलाहार सम्बन्ध में प्रो० सा० ने यह पंक्ति लिखी हैं—

"कुन्दकुन्दाचार्य ने केवली के भूख प्यासादि की वेदना का निषेध किया है पर तत्वार्थ-सूत्रकार (आचार्य उमास्वामी) ने सबलता से कर्म सिद्धान्तानुसार यह सिद्ध किया है कि वेदनीयोदयजन्य क्षुधा पिपासादि ग्यारह परीषह केवली के भी होते हैं।"

इस सब कथन से प्रो० सा० ने यह बात सिद्ध करने का प्रयास किया है कि कुन्दकुन्दाचार्य का आचार्य उमास्वामी से जुदा ही मत है। आप केवली के भूख प्यासादिकी वेदनाको तत्वार्थ सूत्र के आधार पर सबलता से सिद्ध होना बताते हैं।

प्रो० सा० ने स्त्री-मुक्ति, सवस्त्र-मुक्ति और केवली कवलाहार की सिद्धि के लिये तत्वार्थ सूत्र, सर्वार्थसिद्धि राजवार्तिक तत्वार्थालंकार, गोम्मटसार, भगवती आराधना, आप्तमीमांसा तथा षट्खण्डागम—धवल आदि सिद्धान्त शास्त्रों के प्रमाण भी दिये हैं।

पाठकों का आश्चर्य के साथ यह शंका भी हो सकती है कि जब दिगम्बर जैन शास्त्रों के प्रमाण भी उन्होंने दिये हैं यहां तक कि धवल आदि सिद्धान्त शास्त्रों से भी स्त्री मुक्ति की सिद्धि बताई है तब तो दिगम्बर सम्प्रदाय की मान्यता भी स्त्री मुक्ति आदि के विषय में सिद्ध होती है।

पाठकों की इस आश्चर्यभरी शंका का समाधान हम बहुत ही खुलासा रूप में आगे करेंगे यहां पर संक्षेप में इतना लिख देना ही हम पर्याप्त समझते हैं कि जिन तत्वार्थ-सूत्र, गोम्मटसार, भगवती आराधना, धवल सिद्धांत आदि दि० शास्त्रों के प्रमाण प्रो० सा० ने स्त्री-मुक्ति आदि की सिद्धि के लिये दिये हैं वे प्रमाण उन्होंने अपनी समझ के अनुसार दिये हैं। इससे जाना जाता है कि वे उक्त सभी शास्त्रों की या तो जानकारी नहीं रखते हैं अथवा दिगम्बर धर्म को श्वेताम्बर धर्म में मिला देने की धुनमें दिगम्बर शास्त्रों के कथन को सर्वथा विपरीत रूप में रख कर समाज को भ्रम में डालना चाहते हैं।

यदि प्रो० सा० शास्त्रों की जानकारी नहीं रखते हैं तो विशेषज्ञों से अपनी समझ का परिपूर्ण विचार-विमर्श कर लेना आवश्यक था, यदि वे विशेषज्ञों से उन शास्त्रोंके सिद्धांतों को अच्छी तरह समझ लेते तो उन्हें दिगम्बर धर्म के सिद्धांतों के विरुद्ध ऐसा स्वतन्त्र मन्तव्य रखने का प्रसंग नहीं आता यदि वे उन शास्त्रों के रहस्य को भली भांति जानते हैं तो उन

शास्त्रों में ही स्त्री-मुक्ति, सवस्त्र-मुक्ति आदि का स्पष्ट रूप से खण्डन किया गया है। जैसा कि हम आगे स्पष्ट करने वाले हैं तब वैसी अवस्था में उनका उन शास्त्रों के विरुद्ध मत प्रसिद्ध करना और उसे उन शास्त्रों के प्रमाण देकर सिद्ध करने का प्रयास करना बहुत बड़ा प्रतारण एवं आगम विरुद्ध विपरीत मार्ग का (मिथ्या मार्ग का) प्रचार करना है। ऐसे प्रचार से अनेक भोले भाइयों का अकल्याण हो सकता है।

यहां पर हम यह प्रगट कर देना परमावश्यक समझते हैं कि स्त्री-मुक्ति, सवस्त्र-मुक्ति और केवली कवलाहार इन मन्तव्यों का किन्हीं दि० जैन शास्त्रों में विधान हो और किन्हीं में निषेध हो जैसा कि उपर्युक्त शास्त्रों के प्रमाण देकर प्रो० सा० बताते हैं सो भी नहीं है, दिगम्बर शास्त्रों में चाहे वे प्राचीन हों चाहे अर्वाचीन हों कहीं भी स्त्री-मुक्ति आदि का विधान नहीं मिलेगा।

जितने भी दिगम्बर धर्म में आर्ष शास्त्र हैं उन सबों में स्त्री मुक्ति आदि का पूर्ण निषेध है।

इसी प्रकार भगवान कुन्दकुन्द स्वामी और आचार्य उमास्वामी इन दोनों आचार्यों में भी स्त्री-मुक्ति, सवस्त्र-मुक्ति, केवली कवलाहार इन बातों में कोई मतभेद नहीं है। इन दोनों में ही क्यों ? जितने भी आज तक दिगम्बर जैनाचार्य हुये हैं उन प्राचीन और अर्वाचीन (नवीन) सभी आचार्यों में इन मन्तव्योंके विषयमें कोई मतभेद नहीं है, इन मन्तव्योंकी सिद्धि

किसी भी आचार्य के मत से सिद्ध नहीं हो सकती है।

प्रो० सा० ने जो भगवान कुन्दकुन्द स्वामी के विषय में उमास्वामी आचार्य से मतभेद प्रगट कर उमास्वामी आचार्य के मत से सवस्त्र-मुक्ति और केवली कवलाहार आदि की सिद्धि की है सो उनका ऐसा लिखना भी भ्रमपूर्ण है क्योंकि उमास्वामी विरचित तत्त्वार्थसूत्र द्वारा स्त्री-मुक्ति आदि की सिद्धि किसी प्रकार भी नहीं हो सकती है, उपर्युक्त तीनों मन्तव्यों का उसमें स्पष्ट खंडन है। भगवान कुन्दकुन्दके सम्बंध में जो प्रोफेसर साहबने यह लिखा है कि "कुन्दकुन्दाचार्य ने जो अपने ग्रन्थों में स्त्री-मुक्ति आदि का खण्डन किया है वह उन्होंने गुणस्थान-चर्चा और कर्मसिद्धान्त की व्यवस्था के अनुसार नहीं लिखा है।" प्रो० साहबका यह लिखना विद्वानों की दृष्टि में अविचारपूर्ण है। हमें आश्चर्य है कि भगवान कुन्दकुन्द के विषय में ऐसा लिखने का साहस प्रोफेसर साहब ने किस प्रकार कर डाला जिन आचार्य कुन्दकुन्द को सामयिक सभी आचार्य सर्वोपरि एवं सिद्धान्त रहस्य के प्रधानवेत्ता मानते हैं। जो भगवत् कुन्दकुन्दाचार्य मूलसंघ के अनु प्रवर्तक नायक हैं, शास्त्र प्रवचन में सर्वत्र उनका नाम आचार्य परम्परा में प्रथम घोषित किया जाता है। यथा—

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणिः
मंगलं कुन्दकुन्दाद्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥

इन सब बातों के अतिरिक्त आचार्य कुन्दकुन्द का

स्थान आचार्यों की श्रेणी में असाधारणतापूर्ण वैशिष्ट्य रखता है। उसके अनेक कारण हैं, उनका अनुभव पूर्ण पांडित्य भी असाधारण कोटि में गिना जाता है। सिद्धांत रहस्य और कर्मसिद्धांत के वे कितने मर्मज्ञ थे यह बात उनके महान् ग्रन्थों से सब विदित है। सबसे अधिक महत्वपूर्ण व्यक्तित्व उनका विदेह क्षेत्रस्थ स्वामी सीमंधर तीर्थंकर के साक्षात् दर्शनों से प्रसिद्ध है। ऐसे महान् ऋषि पुङ्गव, उद्भट विद्वान्, आचार्यप्रधान भगवान कुन्दकुन्द कर्म सिद्धान्त और गुणस्थान चर्चा की व्यवस्थित विवेचना से अनभिज्ञ हैं अथवा बिना उक्त विवेचना के उन्होंने यों ही स्त्री-मुक्ति आदि का खण्डन कर डाला है ये सब बातें सर्वथा निःसार एवं अग्राह्य हैं। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी के अगाध पाण्डित्य एवं तात्विक गंभीरतापूर्ण शास्त्रों के मनन करने वाले आचार्य भी उन्हें महती श्रद्धा के साथ मस्तक झुकाते हैं। उन्हें इस युग के गणधर तुल्य और दिगम्बर जैनधर्म के इस युग के मुख्य प्रवर्तक समझते हैं।

आचार्य कुंदकुंद स्वामी को जो प्रो० सा० आज कर्म-सिद्धान्त और गुणस्थान-चर्चा के अजानकार बताते हैं वे ही प्रो० सा० धवल सिद्धान्त ग्रन्थ के सम्पादक के नाते उस ग्रन्थ की भूमिका में स्वयं उक्त आचार्यवर्य के विषय में क्या लिख चुके हैं, यहां पर पाठकों की जानकारी के लिये हम उनकी पंक्तियां ही रख देते हैं—

"कर्म प्राभृत (षट्खण्डागम और कषाय प्राभृत) इन दोनों सिद्धान्तों का ज्ञान, गुरु परिपाटी से कुंदकुंद पुर के पद्मनन्दि मुनि को प्राप्त हुआ और उन्होंने सबसे पहले षट्-खण्डागम के प्रथम तीन खण्डों पर बारह हजार श्लोक प्रमाण एक टीका ग्रन्थ रचा, जिसका नाम 'परिकर्म' था।

हम ऊपर बतला आये हैं कि इन्द्रनन्दिका कुंदकुंदपुरके पद्मनन्दि से हमारे उन्हीं प्रातः स्मरणीय कुन्दकुन्दाचार्य का ही अभिप्राय हो सकता है, जो दिगम्बर जैन सम्प्रदाय में सबसे बड़े आचार्य माने गये हैं और जिनके प्रवचनसार, समयसार, आदि ग्रन्थ जैन-सिद्धान्त के सर्वोपरि प्रमाण माने जाते हैं।"

(षट्खण्डागम प्रथम खण्ड की भूमिका पृष्ठ ४६)

प्रो० सा० की ऊपर की पंक्तियों से अधिक अब हम आचार्य शिरोमणि कुंदकुंद स्वामी के अगाध पाण्डित्य के विषय में कुछ भी कहना व्यर्थ समझते हैं। "जिन्होंने षट्-खण्डागम के प्रथम तीन खण्डों पर बारह हजार श्लोक प्रमाण टीका रची है। और जो दि० जैन-सिद्धान्त के सर्वोपरि प्रमाण माने जाते हैं और सबसे बड़े आचार्य गिने जाते हैं।"

जिन आचार्य कुंदकुंद स्वामी का परिचय प्रो० सा० ने अपनी भूमिका के उक्त शब्दों में दिया है, वे ही आज उन्हें कर्म-सिद्धान्त और गुणस्थान चर्चा के अजानकार बतावें ? ऐसा पूर्वापर विरोधी वचन कहने में उनका क्या अन्तरंग रहस्य है, सो वे ही जानें। अस्तु।

स्त्री-मुक्ति विचार

सर्वोच्च महर्षि भगवत्कुंदकुंदाचार्य ने स्त्री-मुक्ति के सम्बन्ध में कितना सयुक्तिक, महत्वपूर्ण विवेचन किया है। सबसे प्रथम हम अपने लेख में उसी का दिग्दर्शन पाठकों को कराते हैं—

लिंगम्मि य इत्थीणं थणंतरे णाहिकक्खदेसेसु ।
भणिओ सुहमो काओ तासं कह होइ पवज्जा ॥

(षट् प्राभृतादि संग्रह ६८)

अर्थ—स्त्रियों की योनि में, दोनों स्तनों के बीच में नाभि (ढुंढी) के भीतर तथा उनके दोनों भुजाओं के मूल में अर्थात्—कांखों में सूक्ष्म जीव—सूक्ष्म पंचेन्द्रिय पर्यन्त उत्पन्न होते रहते हैं। इस लिये स्त्रियों के जिन-दीक्षा कैसे बन सकती है अर्थात्—किसी प्रकार भी नहीं बन सकती।
और भी भगवान् कुंदकुंद कहते हैं—

जइ दंसणेण सुद्धा उत्ता मग्गेण सावि संजुत्ता ।
घोरं चरियचरित्तं इत्थीसु ण पावया भणिया ॥

(षट् प्राभृतादि संग्रह पृ० ६९)

अर्थ—स्त्री सम्यग्दर्शन और एक देश रत्नत्रय स्वरूप मोक्ष मार्ग को भी धारण कर निर्मल एवं शुद्ध हो जाती है, घोर तपश्चरण भी (विशिल्या के समान) कर डालती है। तथापि स्त्री-पर्याय में जिन-दीक्षा नहीं है। इसी गाथा की संस्कृत टीका में आचार्य श्रुतसागर लिखते हैं कि—

पंचमगुणस्थानं प्राप्नोति स्त्रीलिंगं छित्वा स्वर्गमे देवो भवति ततश्च्युत्वा मनुष्यभवमुत्तमं प्राप्य मोक्षं लभते।

(षट् प्राभृतादि संग्रह पृष्ठ ६६)

अर्थात्—रत्नत्रय प्राप्त करके भी स्त्री पंचम गुण-स्थान को ही प्राप्त करती है। फिर उस एक देश चारित्र एवं तपश्चरण द्वारा स्त्री लिंग का छेद करके स्वर्गों में देव पर्याय को पा लेती है, फिर देव पर्याय से च्युत होकर उत्तम मनुष्य भव को धारण कर मोक्ष पा लेती है।

इसी के आगे भगवान् कुंदकुंद ने और भी युक्ति एवं प्रत्यक्ष अनुभवगम्य कथन कर स्त्री-मुक्ति का निषेध किया है। यथा—

चित्ता सोहि ण तेसिं ढिल्लं भावं तहा सहावेण।
विज्जदि मासा तेसिं इत्थीसु ण संकयाझाणं॥

(षट् प्राभृतादि संग्रह पृष्ठ ६६)

अर्थात्—स्त्रियों के हर महीने में रुधिर-स्राव होता रहता है। इस लिये निःशंक रूप से उनके एकाग्र चिन्ता-निरोधरूप ध्यान नहीं हो पाता है। और यही कारण है कि उनके चित्त में परिपूर्ण रूप से विशुद्धि नहीं हो पाती है, परिणामों में शैथिल्य रहता है तथा व्रत पालने में अत्यन्त दृढ़ता भी नहीं हो पाती है। इसका कारण यही है कि जब शरीर में कोई मलिनता हो जाती है तब भावों में भी पूर्ण विशुद्धि नहीं हो पाती है।

परन्तु प्रो० सा० को आचार्य कुंदकुंद स्वामीका उपयु क्त कथन अपने मन्तव्य के विरुद्ध होने से सर्वथा नहीं रुचा है। अतः उन्होंने इस कथन को आचार्य परम्परा एवं कर्मसिद्धान्त के प्रतिकूल सिद्ध करने की चेष्टा की है। इसकी पुष्टिमें उन्हों ने स्वसम्पादित षट् खण्डागम के सूत्रों का भी निर्देश किया है। परन्तु हम इस प्रकरण में युक्ति और आगम दोनों ही प्रकार से यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि दि० जैनागममें कोई भी ग्रन्थ प्रो० सा० की बातकी पुष्टि नहीं करता प्रत्युत विरोधमें सर्वत्र स्पष्ट निषेध किया गया है।

स्वयं प्रो० सा० ने जिन ग्रन्थों का उल्लेख किया है एवं जिन सूत्रों के आधारपर उन्होंने अपनी चर्चा उठाई है वे सभी उन की बात का विरोध ही करते हैं अस्तु।

प्रो० हीरालाल जी ने जिन शास्त्रों के प्रमाणों से स्त्री-मुक्ति सिद्ध की है अब उनपर हम विचार करते हैं। सबसे पहले उन्होंने स्त्री-मुक्ति के विधान में षट् खण्डागम-धवल-सिद्धान्त शास्त्र का प्रमाण दिया है। वे लिखते हैं—

"दिगम्बर आम्नाय के प्राचीतम ग्रन्थ पट्खण्डागम के सूत्रों में मनुष्य और मनुष्यनी अर्थात् पुरुष और स्त्री दोनों के अलग अलग चौदहों गुणस्थान बतलाये गये हैं।" इन पंक्तियों से प्रो० सा० ने यह बात सिद्ध की है कि जिस प्रकार मनुष्य के चौदहों गुणस्थान होते हैं उसी प्रकार मनुष्यनी (स्त्री) के भी चौदहों गुणस्थान होते हैं। इसके लिये उन्होंने

धवला टीका के सत्प्ररूपणा सूत्र ६३ का प्रमाण दिया है। प्रो० सा० यह समझ रहे हैं कि मनुष्यनी से द्रव्य स्त्री का ग्रहण है और मनुष्यनी के चौदह गुणस्थान बतलाये गये हैं तो द्रव्य स्त्रीके मोक्षकी प्राप्ति सहज सिद्ध है। परन्तु जिस सत्प्ररूपणा के ६३ वें सूत्र का प्रो० सा० ने द्रव्यस्त्री की मोक्ष प्राप्ति में प्रमाण दिया है उसी सूत्र में स्पष्ट रूप से द्रव्यस्त्री को मोक्ष प्राप्ति का सर्वथा निषेध किया गया है। यहां पर उसी प्रकरण को पाठकों की जानकारी के लिये ज्यों का त्यों रख देते हैं—

सम्मामिच्छाइट्ठि–असंजदसम्माइट्ठिसंजदा–
संजद–ट्ठाणे णियमा पज्जत्तियाओ ॥
(६३ सूत्र सत्प्ररूपणा प्रथम खण्ड)

इस सूत्र का अर्थ षट् खण्डागम में यह लिखा गया है कि मनुष्य स्त्रियां सम्यङ्मिथ्यादृष्टि, असंयत सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत और संयत गुणस्थानों में नियम से पर्याप्तक होती हैं। इस सूत्रकी व्याख्या धवला टीका में इस प्रकार की गई है—

"हुण्डावसर्पिण्यां स्त्रीषु सम्यग्दृष्टयः किन्नोत्पद्यन्त इति चेन्न, उत्पद्यन्ते। कुतोऽवसीयते? अस्मादेवाऽऽर्षात्। अस्मादेवार्षाद् द्रव्य–स्त्रीणां निर्वृत्तिः सिद्धयेदितिचेन्न, सवासस्त्वादप्रत्याख्यान–गुणस्थितानां संयमानुपपत्तेः। भावसंयमस्तासां सवाससामपि अविरुद्ध इतिचेत्, न तासां भावसंयमोऽस्ति, भावाऽसंयमाऽविनाभावि–वस्त्राद्युपादानान्यथानुपपत्तेः। कथं

पुनः तासु चतुर्दशगुणस्थानानि इति चेन्न, भावस्त्री-विशिष्ट मनुष्यगतौ तत्सत्वाविरोधात् ।"

(षट्खण्डागम-प्रथम खंड-धवला टीका सूत्र ९३ पृष्ठ ३३२-३३३)

इसका हिन्दी अर्थ इस प्रकार है—

शंका यह उठाई गई है कि हुण्डावसर्पिणी काल-सम्बन्धी स्त्रियों में सम्यग्दृष्टि जीव क्यों नहीं उत्पन्न होते हैं ? उत्तर में कहा गया है कि हुण्डाव-सर्पिणी काल-सम्बन्धी स्त्रियों में भी सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न होते हैं। इसके लिये यह षट्खण्डागम का आगम ही प्रमाण है।

फिर शंका की गई है कि यदि इस आगम से द्रव्य स्त्रियों को सम्यग्दर्शन का होना सिद्ध होता है तो इसी आगम से द्रव्य स्त्रियों का मुक्ति जाना भी सिद्ध हो जायगा ? उत्तर में कहा गया है कि यह बात नहीं हो सकती है क्योंकि द्रव्य स्त्रियां वस्त्र सहित रहती हैं और वस्त्र सहित रहने से उनके संयतासंयत (पांचवां) गुणस्थान होता है, इस लिये उन द्रव्य-स्त्रियों के संयम (छठे गुणस्थान) की उत्पत्ति नहीं हो सकती है।

फिर शंका उठाई गई है कि वस्त्र सहित होते हुये भी उन द्रव्य स्त्रियों के भाव संयम के होने में कोई विरोध नहीं आना चाहिये ? उत्तर में कहा गया है कि द्रव्य स्त्रियों के भाव संयम (छठा गुणस्थान) नहीं है, इसका कारण यह है

कि यदि द्रव्यस्त्रियों के भाव-संयम माना जायगा तो उनके वस्त्र-सहितपना नहीं बनेगा, क्योंकि वस्त्र का ग्रहण असंयम का अविनाभावी है। अर्थात् जहां वस्त्र-सहितपना है वहां असंयम भाव है। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि वस्त्र रहित अवस्था में ही संयम भाव हो सकता है। द्रव्य स्त्रियोंकी वस्त्रसहित अवस्था है, इस लिये उनके संयम भाव नहीं हो सकता है।

फिर शंका उठाई गई है कि यदि द्रव्य स्त्रियोंको मोक्ष प्राप्ति नहीं हो सकती है तो फिर उनमें चौदह गुणस्थान होते हैं यह कथन किस प्रकार सिद्ध होगा ?

इस शंका के उत्तर में धवलाकार समाधान करते हैं कि द्रव्य स्त्रियों के चौदह गुणस्थान नहीं बताये गये हैं किन्तु भावस्त्री के चौदह गुणस्थान बताये गये हैं। अर्थात् भावस्त्री वेदयुक्त मनुष्य गति में चौदह गुणस्थान मानने में कोई विरोध नहीं आता है। जो द्रव्य-पुरुष-वेदी है और भावस्त्री-वेदी है उसके चौदह गुणस्थान होते हैं वैसा मानने में कोई आगम की बाधा नहीं है।

ऊपर लिखी हुई धवला टीका की पंक्तियों का यह हिन्दी अर्थ है और ऐसा ही हिन्दी अर्थ उस धवला टीका में छपा हुआ भी है, पाठक स्वयं देख सकते हैं। इस कथन से षट्खण्डागम के धवलाकार आचार्य महाराजने यह बिलकुल खुलासा कर दिया है कि जो स्त्रीवेद की अपेक्षा चौदह गुणस्थान बताये गये हैं वे भावस्त्री-वेदयुक्त द्रव्य-पुरुष-वेदी के

हीं हो सकते हैं। द्रव्य स्त्री के तो संयम ही नहीं हो सकता है क्योंकि द्रव्य स्त्री वस्त्र सहित रहती है, और सवस्त्र अवस्था में संयम भाव (छठा गुणस्थान) नहीं हो सकता है। जब संयम भाव (छठा गुणस्थान) ही द्रव्य स्त्रीके नहीं बन सकता तब संयम की प्राप्ति के विना मोक्ष प्राप्ति किस प्रकार उनके हो सकती है ? अर्थात् द्रव्य स्त्री के संयम के अभाव में मोक्ष कदापि सिद्ध नहीं हो सकती है। द्रव्य स्त्री के संयमासंयम पांचवां गुणस्थान ही अधिक से अधिक हो सकता है। इतना खुलासा होने पर भी धवला टीकाकार इसी ९३ वें सूत्र की टीका में आगे और भी स्पष्ट करते हैं—

"भाववेदो बादरकषायान्नोपर्यस्तीति न तत्र चतुर्दश गुणस्थानानां संभव इति चेन्न, अत्र वेदस्य प्राधान्याभावात्। गतिस्तु प्रधाना नसाऽऽराद्विनस्यति। वेदविशेषणायां गतौ न तानि संभवन्तीति चेन्न विनष्टेपि विशेषणे उपचारेण तद्व्यपदेशमादधानमनुष्यगतौ तत्सत्वाऽविरोधात्।"

(षट् खण्डागम, सत्प्ररूपणा, प्रथम खण्ड, धवला टीका पृष्ठ ३३३)

इसका हिन्दी अर्थ इस प्रकार है—

शंकाकार का यह कहना है कि जब शास्त्रकार भाव-स्त्री वेद की अपेक्षा चौदह गुणस्थान बताते हैं तो भाववेद तो बादर कषाय (नौवें गुणस्थान) तक ही रहता है, उसके ऊपर भाववेद नष्ट हो जाता है अर्थात् नौवें गुणस्थान के ऊपर भाव-

वेद नहीं रहता है तब भाव स्त्रीवेद की अपेक्षा चौदह गुणस्थान बताये गये हैं वे किस प्रकार बन सकते हैं ?

इसके समाधान में धवलाकार आचार्य कहते हैं कि ऊपर जो शंका उठाई गई है वह ठीक नहीं है। क्योंकि वहां पर वेदों की प्रधानता नहीं है किन्तु गति की प्रधानता है। और वह पहले नष्ट नहीं होती है। अर्थात् मनुष्य गति चौदह गुणस्थान तक रहती है उसी की प्रधानता से चौदह गुणस्थान कहे गये हैं।

फिर भी शंकाकार कहता है कि जब भाववेद नौवें गुणस्थान के ऊपर नहीं रहता है, तब मनुष्य गति के रह जाने पर भी भाववेदकी अपेक्षा चौदह गुणस्थान कैसे हो सकेंगे ?

इसके उत्तरमें आचार्य स्पष्ट करते हैं कि मनुष्यगतिका भाववेद विशेषण है, इस लिये नौवें गुणस्थान तक तो भाव-स्त्रीवेदसहित मनुष्यगतिका सद्भाव रहता है। और नौवेंके ऊपर अर्थात दशवें आदि गुणस्थानों में भाववेद विशेषण नष्ट होने पर भी मनुष्य गति तो बनी रहती है, इस लिये उस मनुष्य गति की प्रधानता से और भाव-स्त्रीवेद के नष्ट हो जाने पर भी उसके साथ रहने वाली मनुष्य गति के सद्भाव में उपचार से भाव-स्त्रीवेद की अपेक्षा चौदह गुणस्थान कहे गये हैं।

इसका खुलासा लेश्या के दृष्टांत से समझ लेना चाहिये, शास्त्रकारों ने तेरहवें गुणस्थान तक शुक्ल लेश्या

बताई है। परन्तु लेश्या कषायों के उदय सहित योग प्रवृत्ति में होती है, ऐसी अवस्था में यह शंका होती है कि तेरहवें गुणस्थान में अर्हंत भगवान के जब कषाय नष्ट हो चुकी है तब वहां लेश्या कैसे सिद्ध हो सकती है। क्योंकि कषाय तो दशवें गुणस्थान के अन्त में ही सर्वथा नष्ट हो जाती है, इस लिये कषाय सहित योग प्रवृत्ति तेरहवें गुणस्थान में नहीं है। अतः वहां शुक्ल लेश्या का जो सद्भाव कहा गया है वह नहीं बन सकता है ?

इसके समाधान में आचार्यों ने सर्वत्र यही उत्तर दिया है कि यद्यपि तेरहवें गुणस्थान में कषाय नहीं है। पहले गुणस्थान से लेकर दशवें गुणस्थान तक योगों के साथ रहने वाली कषाय का अभाव होने पर भी उस कषाय का साथी योग तो तेरहवें गुणस्थान में रहता है। इस लिये विशेषण-भूत कषाय साथी के हट जाने पर भी विशेष्य भूत योगों के रहने से उपचार से वहां लेश्या मानी जाती है। उसी प्रकार नौवें गुणस्थान तक मनुष्य गति के साथ विशेषण रूप से रहने वाला भाव-स्त्रीवेद यद्यपि नौवें के ऊपर नहीं रहता है, परन्तु उसका विशेष्यभूत साथी मनुष्य गति तो रहती है। इस लिये चौदह गुणस्थान तक भाव-स्त्रीवेद का साथी मनुष्य गति रहने से उपचार से भाव-स्त्रीवेद की अपेक्षा से चौदह गुणस्थान कहे गये हैं।

ऐसा ही हिन्दी अर्थ धवला टीका में भी छपा हुआ है

शंका समाधान के साथ किये गये इस बहुत खुलासा से हिन्दी अर्थ को समझने वाला साधारण पुरुष भी अच्छी तरह जान लेगा कि भाववेद की अपेक्षा से ही चौदह गुणस्थान कहे गये हैं। ग्रन्थकार ने मनुष्य गति की प्रधानता बताकर उपचार से ही भाववेद की अपेक्षा चौदह गुणस्थान बताये हैं। इस उपचार कथन से द्रव्य स्त्री के चौदह गुणस्थानों की सम्भावना का प्रश्न ही खड़ा नहीं हो सकता है।

इस षट्खण्डागम–धवला टीका के मुख्य सम्पादक प्रो० हीरालाल जी हैं। जब वे मुख्य सम्पादक हैं तब इतना खुलासा धवला टीकामें होने पर भी प्रो० सा० षट्खण्डागमके उसी ९३ वें सूत्र का प्रमाण प्रगट कर उससे द्रव्य स्त्री को मोक्ष प्राप्ति होना किस प्रकार से सिद्ध करते हैं? स्त्री मुक्ति में ९३ वें सूत्र का प्रमाण देने के पहले उन्हें उस सूत्रका संस्कृत या हिन्दी अर्थ तो जान लेना चाहिये था। सर्वज्ञ–प्रणीत अनादि सिद्ध दिगम्बर सिद्धान्तों का इस प्रकार अपलाप करना तो सर्वथा अनुचित है।

इसके आगे प्रो० सा० ने जो षट्खण्डागम की द्रव्य–प्ररूपणा, क्षेत्र–प्ररूपणा, स्पर्शन–प्ररूपणा, काल–प्ररूपणा, अन्तर–प्ररूपणा और भाव–प्ररूपणा के सूत्रों की केवल संख्या देकर यह बतलाया है कि इनसे भी स्त्री के चौदह गुणस्थान सिद्ध होते हैं। सो उनके इन उल्लिखित सभी सूत्रों को और उनपर की गई धवला टीकाको देखनेसे स्पष्ट प्रतीत हो जाता है

कि कहीं भी द्रव्य स्त्री के चौदह गुणस्थान सिद्ध नहीं होते हैं, किन्तु भाव स्त्री की अपेक्षा ही चौदह गुणस्थान बताये गये हैं।

स्त्रीवेद से संयत गुणस्थानों में भाव-वेदी स्त्री ही ली गई है। अपगत वेद-स्थानों में भाववेदस्त्री के चौदह गुण-स्थान उपचार से कहे गये हैं। वहां मनुष्यगति की प्रधानता है जो कि ६ वें गुणस्थान तक भाववेदों की सहगामी रही है। यह बात सत्प्ररूपणामें ग्रन्थकार बहुत खुलासा कर चुके हैं जैसा कि ऊपर हम सप्रमाण लिख चुके हैं। इस लिये अब पिष्टपेषण एवं पुनरुक्ति करना व्यर्थ है।

उन्होंने सर्वार्थ-सिद्धि और गोम्मटसार शास्त्रों के प्रमाणों से द्रव्य स्त्री के लिये मुक्ति प्राप्ति बताई है सो उन ग्रन्थों के विषय में भी हम यहां पर विचार करते हैं।

प्रो० सा० ने लिखा है कि—

"पूज्यपाद कृत सर्वार्थ सिद्धि टीका तथा नेमिचन्द्रकृत गोम्मटसार ग्रन्थमें भी तीनों वेदोंसे चौदहों गुणस्थानोंकी प्राप्ति स्वीकार की गई है, किन्तु इन ग्रन्थों में संकेत यह किया गया है कि यह बात केवल भाववेद की अपेक्षा से घटित होती है इसका पूर्ण स्पष्टीकरण अमितगति (?) वा गोम्मटसार के के टीकाकारों ने यह किया है कि तीनों भाववेदों का तीनों द्रव्य वेदों के साथ पृथक् २ सम्बन्ध हो सकता है जिसके नौ प्रकार के प्राणी होते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि जो मनुष्य द्रव्य से पुरुष होता है वही तीनों वेदों में से किसी भी

वेद के साथ क्षपक श्रेणी चढ़ सकता है। किन्तु यह व्याख्यान सन्तोषजनक नहीं है।"

प्रो० सा० की उपर्युक्त पंक्तियों से ही यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जो तीनों वेदों से चौदहों गुणस्थानों की प्राप्ति सर्वार्थ-सिद्धि गोम्मटसारकार ने बताई है वह भाववेद से ही बताई है। जैसा कि वे स्वयं ऊपर की पंक्ति में लिखते हैं कि—"किन्तु इन ग्रन्थों में संकेत यह किया गया है कि यह बात केवल भाव वेद की अपेक्षा से घटित होती है।" अब अधिक इस सम्बन्ध में और क्या स्पष्ट किया जाय। जब भाववेदसे ही चौदहों गुणस्थान होते हैं तब द्रव्यस्त्रीवेदसे चौदह गुणस्थान और मोक्ष सर्वथा असम्भव है। यह बात इन ग्रन्थों से सिद्ध हो जाती है।

सर्वार्थ-सिद्धि के प्रमाण से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि द्रव्य-स्त्री को क्षायिक सम्यग्दर्शन भी नहीं होता है, वह भाववेद की अपेक्षा से ही बताया गया है यथा—

मानुषीणां त्रितयमप्यस्ति पर्याप्तिकानामेव,
नाऽपर्याप्तिकानाम्, क्षायिकं पुनर्भाववेदेनैव ॥

(सर्वार्थ-सिद्धि पृष्ठ ११)

इसका अर्थ यह है कि सम्यग्दर्शन के प्रकरण में यह बात बताई गई है कि मनुष्यिणी के तीनों सम्यक्त्व पर्याप्त अवस्था में ही होते हैं, अपर्याप्त अवस्था में नहीं होते हैं। परन्तु इतनी विशेषता है कि क्षायिक सम्यग्दर्शन तो भाववेद-

स्त्री को ही हो सकता है, द्रव्यवेद स्त्री को नहीं हो सकता। इस कथन से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि जब द्रव्य-स्त्री के क्षायिक सम्यग्दर्शन ही नहीं हो सकता तो फिर चौदह गुणस्थान और मोक्ष का होना तो नितांत असम्भव है। क्यों-कि बिना क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त किये कोई जीव क्षपक श्रेणी नहीं माढ़ सकता है। इस लिये सर्वार्थ-सिद्धिकार ने स्त्री के जो नौ गुणस्थान अथवा उपचार से चौदह गुणस्थान कहे हैं वे भाववेद से ही कहे हैं। सर्वार्थ-सिद्धि में इसी विषय में और भी स्पष्ट किया गया है यथा—

कुतः मनुष्यः कर्मभूमिज एव दर्शनमोहक्षपणप्रारंभको भवति। द्रव्यवेदस्त्रीणां तासां क्षायिकाऽसंभवात्॥

(सर्वार्थ-सिद्धि पृष्ठ ११)

इसका अर्थ यह है कि कर्मभूमि का मनुष्य ही दर्शन-मोह कर्म का क्षय प्रारम्भ करता है। क्योंकि द्रव्यस्त्रीवेद के क्षायिक सम्यक्त्व नहीं होता है।

इसी बात की पुष्टि गोम्मटसार से होती है यथा—

दंसमोहक्खवणा-पट्ठवगो कम्मभूमिजादो हि,
मणुसो केवलिमूले णिट्ठवगो होदि सव्वत्थ।
दर्शनमोहक्षपणप्रारम्भकः कर्मभूमिज एव सोपि,
मनुष्य एव तथापि केवलिश्रीपादमूले एव भवति॥

(गोम्मटसार संस्कृत टीका पृष्ठ १०१८ गा० ६४८)

अर्थ इसका यह है कि दर्शन-मोह-प्रकृति का क्षय

प्रारम्भ करने वाला, कर्मभूमि वाला ही होता है, वह भी मनुष्य ही होता है और केवली के पादमूल में ही उसका प्रारम्भ करता है। यहां पर ग्रन्थकार और टीकाकार दोनों ने "मनुष्य एव" पद देकर यह स्पष्ट कर दिया है कि द्रव्यवेदस्त्री क्षायिक सम्यक्त्व का प्रारम्भ नहीं कर सकती है किन्तु पुरुष ही करता है। इस लिये जब क्षायिक सम्यक्त्व ही द्रव्यवेद स्त्री के नहीं होता है तब चौदह गुणस्थान व मोक्ष की बात तो बहुत दूर एवं सर्वथा असम्भव है।

प्रो० सा० ने जो यह बात लिखी है कि "गोम्मटसारके टीकाकारों ने यह बताया है कि जो मनुष्य द्रव्य-पुरुष होता है वह तीनों वेदों में से किसी भी वेद के साथ क्षायिक श्रेणी चढ़ सकता है। किन्तु यह व्याख्यान सन्तोषजनक नहीं है।"

उनके इस कथन से विदित होता है कि 'गोम्मटसार मूलमें तो द्रव्यपुरुष वेद के साथ तीनों भाववेद नहीं होते हैं। किन्तु टीकाकारों ने एक द्रव्यवेद के साथ तीनों भाववेद बता दिये हैं।' ऐसा प्रो० सा० समझ रहे हैं। परन्तु यह समझ भी उनकी मिथ्या है। कारण जो बात मूल गाथा में है उसी को टीकाकारों ने लिखा है। गोम्मटसार मूल गाथा में ही यह बात स्पष्ट लिखी हुई है कि द्रव्यवेद और भाववेद सम और विषम दोनों होते हैं यथा—

पुरिसिच्छिसंढवेदोदयेण पुरुसिच्छिसंढओ भावे।
णामोदयेण दव्वे पाएण समा कहिं विसमा ॥

(गोम्मटसार जीवकांड पृष्ठ ५६१ गा० २७१)

इस गाथा में मूल में "पाएण समा कहिं विसमा" ऐसा अन्तिम चरण है। उसका अर्थ यही है कि कहीं २ द्रव्यवेद और भाववेद में विषमता भी पाई जाती है। प्रायः समता पाई जाती है। इसी का खुलासा टीकाकारने किया है। यथा—

ऐते द्रव्य-भाववेदाः प्रायेण प्रचुरवृत्या देवनारकेषु भोग-भूमि-सर्वतिर्यग्मनुष्येषु च समाः, द्रव्यभावाभ्यां समवेदोदयांकिता भवन्ति। क्वचित् कर्मभूमि-मनुष्य-तिर्यग्द्वये विषमाः—विसदृशा अपि भवन्ति तद्यथा—द्रव्यतः पुरुषे भावपुरुषः भावस्त्री भावनपुंसकं, द्रव्यस्त्रियां भावपुरुषः भावस्त्री भाव-नपुंसकं, द्रव्यनपुंसके भावपुरुषः भावस्त्री भावनपुंसकं इति विषमत्वं द्रव्यभावयोरनियमः कथितः। कुतः द्रव्यपुरुषस्य क्षपक-श्रेण्यारूढानिवृत्तिकरण-सवेदभागपर्यन्तं वेदत्रयस्य पर-मागमे 'सेसोदयेण वि तहा झाणुवजुत्ताय तेदु सिज्झंति' इति प्रतिपादितत्वेन संभवात्।"

इसका संक्षिप्त अर्थ यही है कि देवनारकी तथा भोगभूमि के तिर्यग्मनुष्योंमें जो द्रव्यवेद तथा भाववेद होता है वे दोनों समान ही होते हैं। परन्तु कर्मभूमिके मनुष्य तिर्यंचोंमें विषम भी होते हैं। जो द्रव्यपुरुष हैं उसके भावपुरुष वेद, भावस्त्री वेद, भाव नपुंसकवेद तीनों हो सकते हैं। इसी प्रकार द्रव्यस्त्री के और द्रव्यनपुंसक के भी तीनों ही भाववेद हो सकते हैं। नीचे की पंक्तियों में तो और भी स्पष्ट कर दिया गया है कि

द्रव्य पुरुषवेद वाला ही क्षपक श्रेणी का आरोहण करता है। उसी के अनिवृत्तिकरण–नौवें गुणस्थान के सवेदभाग पर्यन्त तीनों भाववेद परमागम में बताये गये हैं। दूसरी संस्कृत टीका में—"द्रव्यपुरुषे एव क्षपकश्रेणिमारूढे" इस पंक्ति द्वारा एव पद देकर 'द्रव्यपुरुष ही क्षपक श्रेणी आरूढ़ कर सकता है' ऐसा नियम स्पष्ट कहा गया है।

प्रो० सा० ने गोम्मटसार तथा धवल सिद्धांत आदि शास्त्रों में स्त्रियों के चौदह गुणस्थानों का कथन देखा है उसे देखकर वे समझ रहे हैं कि स्त्री भी मोक्ष जाती है। परन्तु दिगम्बर शास्त्रों के प्रमाण जो उन्होंने दिये हैं वे सब उन शास्त्रों का अभिप्राय नहीं समझकर ही दे डाले हैं।

ऊपर के प्रमाणों से स्पष्ट सिद्ध है कि गोम्मटसार मूल में द्रव्यवेद, भाववेद को सम विषम दोनों रूप में बताया गया है और यह भी स्पष्ट किया गया है कि क्षपक श्रेणी द्रव्यपुरुष-वेदी ही माढ़ सकता है। साथ ही साथ यह भी ग्रन्थकार ने स्पष्ट कर दिया है कि नौवें गुणस्थान तक जो स्त्रीवेद व नपुं-सकवेद बतलाये गये हैं वे द्रव्यवेदी पुरुष के ही भाववेद बतलाये गये हैं। इतना स्पष्ट कथन मूल गोम्मटसार का और उसी के अनुसार टीका का होने पर भी प्रो० सा० का यह कहना कि 'यह व्याख्यान सन्तोषजनक नहीं है', निःसार एवं गोम्मटसार ग्रन्थ के सर्वथा विपरीत है। इसके सिवा प्रो० सा० द्वारा सम्पादित षट् खण्डागम सिद्धान्त शास्त्रों में भी

यही बात लिखी है, यथा—

"जेसिं भावो इत्थिवेदो दव्वं पुण पुरिसवेदो तेवि जीवा संजमं पडिवज्जंति। दव्वित्थिवेदा संजमं ण पडिवज्जंति सचेलत्तादो। भावित्थिवेदाणं दव्वेण पुंवेदाणंपि संजदाणं णाहाररिद्धी समुप्पजदि। दव्वभावेहिं पुरिसवेदाणमेव समुप्पजदि। तेणित्थिवेदेपि णिरुद्धे आहारदुगं णत्थि तेण एगारह जोगा भणिया। इत्थिवेदो अवगदवेदोवि अत्थि, एत्थ भाववेदेण पयदं, ण दव्ववेदेण। किं कारणं? अवगदवेदोवि अत्थि, णिवयणादो।"

(षट्खण्डागम, धवलटीका, सत्प्ररूपणा पृष्ठ ५१३)

इन पंक्तियों का अर्थ षट्खण्डागम की हिन्दी टीका में निम्न प्रकार है, वे पंक्तियां भी हम ज्यों की त्यों रख देते हैं पाठक ध्यान से पढ़ लेवें—

"यद्यपि जिनके भाव की अपेक्षा स्त्रीवेद और द्रव्यकी अपेक्षा पुरुषवेद होता है वे (भावस्त्री) जीव भी संयम को प्राप्त होते हैं, किन्तु द्रव्य की अपेक्षा स्त्रीवेद वाले जीव संयम को नहीं प्राप्त होते हैं। क्योंकि वे सचेल अर्थात् वस्त्र सहित होते हैं। फिर भी भाव की अपेक्षा स्त्रीवेदी और द्रव्य की अपेक्षा पुरुषवेदी संयमधारी जीवों के आहारक ऋद्धि उत्पन्न नहीं होती है, किन्तु द्रव्य और भाव इन दोनों ही वेदों की अपेक्षा से पुरुषवेद वाले जीवों के ही आहारक ऋद्धि उत्पन्न होती है। इस लिये स्त्रीवेद वाले मनुष्यों के आहारक ऋद्धि

के बिना ग्यारह योग कहे गये हैं। योग आलाप के आगे स्त्रीवेद तथा अपगत-वेदस्थान भी होता है। यहां भाववेद से प्रयोजन है, द्रव्यवेद से नहीं। इसका कारण यह है कि यदि यहां द्रव्यवेद से प्रयोजन होता तो अपगतवेद रूप स्थान नहीं बन सकता था।

ऊपर लिखा हुआ यह हिन्दी अर्थ स्वयं प्रो० सा० ने किया है। धवला टीकाकी पंक्तियां ऊपर दी गई हैं। इस अर्थ से सभी बातें खुलासा हो जाती हैं एक तो यह कि 'जिसके द्रव्य-वेद पुरुषवेद होता है, उसके भाववेद स्त्रीवेद आदि भी होते हैं' इससे प्रो० सा० का यह कहना मिथ्या ठहरता है कि जो द्रव्य-वेद होता है वही भाववेद होता है।

दूसरे इस उपर्युक्त कथन से यह बात स्पष्ट शब्दों में खुलासा हो जाती है कि जो द्रव्यवेद पुरुष होगा वही भाववेद स्त्रीवेद होने पर भी संयम प्राप्त कर सकता है। जो द्रव्यवेद स्त्रीवेद होगा वह जीव संयम भाव प्राप्त नहीं कर सकता है। उसका कारण यही बताया है कि द्रव्यस्त्री सवस्त्र रहती है और सवस्त्रावस्था में संयम भाव कभी नहीं हो सकता है इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि द्रव्य स्त्रीवेदी छठा गुणस्थान भी प्राप्त नहीं कर सकती। आगे के गुणस्थान तो नितान्त असंभव हैं।

एक बात यह भी बड़े महत्व और खोज की कही गई है कि जिस प्रकार द्रव्य पुरुष-वेद वाले के चौदह गुणस्थान होते हैं वैसे यदि द्रव्य-स्त्री-वेदी और द्रव्य-नपुंसक-वेदी के भी

चौदह गुणस्थान होते तो फिर "अपगतवेद" कैसे बनता। क्योंकि द्रव्यवेद तो चौदहों तक ठहरते हैं। प्रो० सा० द्रव्य-वेद की अपेक्षा ही चौदह गुणस्थान बताते हैं। इतना खुलासा कथन षट्खण्डागम धवल शास्त्रों में पाया जाता है। इस कथन से इस सम्बन्ध में कोई शंका खड़ी नहीं रहती है।

प्रो० सा० ने अपने लेख में आगे दूसरी बात यह प्रगट की है कि—

"सूत्रों में जो योनिनी शब्द का प्रयोग किया गया है वह द्रव्य स्त्री को छोड़ अन्यत्र घटित ही नहीं हो सकता।" इसके उत्तर में हम अधिक अभी कुछ नहीं लिखकर उनसे यही पूछना चाहते हैं कि वे मनुष्यणी के पांचवें गुणस्थान से ऊपर षट्खण्डागम आदि किन्हीं ग्रन्थों में द्रव्य स्त्री के योनिनी शब्द का प्रयोग बतावें तो सही? तभी उनकी ऊपर की पंक्ति पर विचार किया जा सकता है। जिस प्रकार उन्होंने ग्रन्थों के अभिप्राय के विपरीत अर्थ को प्रमाण कोटिमें रखने का प्रयास किया है। उसी प्रकार वे अपनी ओर से नवीन शब्दों का प्रयोग कर बिना किसी आधार के उन्हें भी प्रमाण कोटि में लाना चाहते हैं? परन्तु केवल पंक्ति लिखने से वस्तुसिद्धि नहीं हो सकती, वे यह बात प्रगट करें कि अमुक शास्त्र में छठे सातवें आदि गुणस्थानोंमें मनुष्यिणीके लिये 'योनिनी' शब्द का प्रयोग आया है? अन्यथा जो शब्द ही नहीं उसपर विचार भी क्या किया जाय?

इसके आगे नं० २ में एक स्वतन्त्र पंक्ति लिखकर प्रो० सा० ने यह बताया है कि वेद आठ वें गुणस्थान तक ही रहता है, ऊपर नहीं। उनकी पंक्ति यह है—

"जहां वेदमात्र की विवक्षा से कथन किया गया है वहां ८ वें गुणस्थान तक का ही कथन किया गया है, क्योंकि उससे ऊपर वेद रहता ही नहीं है।"

हमें इस पंक्ति को पढ़कर आश्चर्य होता है कि प्रो० सा० ने यह पंक्ति क्या समझकर लिखी है। जब कि वे स्वयं लिखते हैं कि द्रव्यपुरुष के समान द्रव्यस्त्री के भी चौदह गुण-स्थान होते हैं। तब ८ वें गुणस्थान तक ही वेद रहता है, आगे वेद रहता ही नहीं, ऐसा उनका लिखना स्ववचनबाधित हो जाता है। यदि वे भाववेद की दृष्टि से कहते हैं तो भी उनका कहना आगम से विपरीत पड़ता है। सर्वार्थ-सिद्धि, गोम्मटसार, षट्खण्डागम-धवल आदि सभी शास्त्रोंमें भाववेदों का सद्भाव ९ वें गुणस्थान तक स्पष्ट रूप से लिखा हुआ है, इस बात की सिद्धि के लिये हम केवल दो प्रमाण ही देना पर्याप्त समझते हैं। यथा—

इत्थिवेदा पुरिसवेदा असण्णिमिच्छाइट्ठिप्पहुदि जाव अणियट्टित्ति। णवुंसयवेदा एयिंदियप्पहुदि जाव अणियट्टित्ति॥

(षट्खण्डागम सिद्धान्त शास्त्र, सत्प्ररूपणा पृष्ठ ३४२-३४३ सूत्र १०२-१०३)

अर्थ—स्त्रीवेद और पुरुषवेद वाले जीव असंज्ञी

मिथ्यादृष्टि से लेकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थान तक होते हैं। तथा—

एकेन्द्रिय से लेकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थान तक नपुंसकवेद वाले जीव पाये जाते हैं।

यह सब कथन भाववेद की अपेक्षा से है यह बात हम ऊपर स्पष्ट कर चुके हैं। इन सिद्धांत सूत्रों से यह स्पष्ट है कि भाववेद नौवें गुणस्थान तक रहते हैं।

इसके सिवा गोम्मटसार कर्मकांडमें जहां सत्वव्युच्छित्ति का प्रकरण है वहां ९ वें गुणस्थान के सवेद भाग तक की नपुंसक पुंवेदों की व्युच्छित्ति बताई गई है। यथा—

षंढित्थि छक्कसाया पुरिसो कोहो य माण मायं च।
थूले सुहमो लोहो उदयं वा होदि खीणम्मि॥
(गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा ३३९)

अर्थात्--तीसरे भागमें नपुंसकवेद प्रकृति, चौथे भाग में स्त्रीवेद प्रकृति, पांचवें में हास्यादि छह नोकषाय और छठे सातवें, आठवें, नवमें भाग में क्रमसे पुरुषवेद संज्वलन क्रोध, मान, माया ये सब प्रकृतियां बादर कषाय—नवमें गुणस्थानमें व्युच्छिन्न होती हैं। यह तो सत्वव्युच्छित्ति है। उदयव्युच्छित्ति भी इस प्रकार है—

अणियट्टी भाग भागेसु—
वेदतिय कोहमाणं माया संजलण मेव सुहमंते॥
(गोम्मटसार कर्मकांड गाथा २६८–२६९)

अर्थात् - अनिवृत्तिकरण—नवमें गुणस्थान के सवेद और अवेद भागों में क्रम से पुरुषवेदादि तीन तथा संज्वलन क्रोध, मान, माया ये तीन ऐसी छह प्रकृतियां उदयसे व्युच्छिन्न होती हैं।

इन सत्वव्युच्छित्ति और उदयव्युच्छित्ति के कथन से यह बात स्पष्ट होती है कि स्त्रीवेद, नपुंसकवेद और पुरुषवेद इन तीनों भाववेदोंका सद्भाव उदय और सत्व दोनों अपेक्षाओं से नवमें गुणस्थान तक रहता है। ऐसी अवस्था में प्रो० सा० का यह कहना कि वेद आठवें गुणस्थान तक ही रहते हैं, उससे ऊपर वेद नहीं रहता है, सर्वथा आगम विरुद्ध है।

इस उदय और सत्व व्युच्छित्ति के कथन से भी प्रो० सा० की इस बात का खण्डन हो जाता है कि आठवें, नवमें गुणस्थानों में जहां स्त्रीवेद का उल्लेख है वहां द्रव्यस्त्री से प्रयोजन है। यदि इन आठवें, नवमें गुणस्थानों में स्त्रीवेदसे द्रव्यस्त्री का ग्रहण किया जाय तो फिर नौवें गुणस्थान में इन तीनों वेदों की सत्वव्युच्छित्ति और उदयव्युच्छित्ति कैसे बताई गई है? जब व्युच्छित्ति हो जाती है तब आगे के दशवें आदि गुणस्थानों में अपगत-वेद कहलाता है। प्रो० सा० के कहने के अनुसार यदि द्रव्यस्त्री मानी जाय तो द्रव्य-वेद तो चौदहवें गुणस्थानतक वहां तक ठहरता है जहां तक कि शरीर ठहरता है। द्रव्यवेद शरीर-रचना से जुदा तो नहीं है फिर उस की व्युच्छित्ति तो हो ही नहीं सकती। वैसी

अवस्था में किसकी तो व्युच्छित्ति मानी जाय और क्या अप-गत-वेद माना जाय ? सो तो प्रो० सा० सोचें और विचार करें। आगम जिस बात का स्पष्ट रूप से बाधक है उस बात को बिना किसी आधार और युक्तिवाद के लिखना अयुक्त है।

स्त्री-मुक्ति के सम्बन्ध में प्रो० सा० ने जो दिगम्बर जैन शास्त्रों के प्रमाण दिये हैं, उन सब प्रमाणों का खंडन उन्हीं शास्त्रों से हम ऊपर अच्छी तरह सिद्ध कर चुके हैं। अब स्त्री-मुक्ति के सम्बन्ध में जो उन्होंने अपने अनुभव के अनुसार दृष्टान्त एवं युक्तियां दी हैं उनपर भी हम यहां विचार करते हैं।

प्रो० सा० की युक्ति और दृष्टान्त इस प्रकार है—

"कर्म सिद्धान्त के अनुसार वेद-वैषम्य सिद्ध नहीं होता। भिन्न इन्द्रिय सम्बन्धी उपांगों की उत्पत्ति का यह नियम बतलाया गया है कि जीव के जिस प्रकार के इन्द्रिय ज्ञान का क्षयोपशम होगा उसी के अनुकूल वह पुद्गल रचना करके उसको उदय में लाने योग्य उपांग की प्राप्ति करेगा। चक्षुरिन्द्रिय आवरण के क्षयोपशम से कर्ण-इन्द्रियकी उत्पत्ति कदापि नहीं होगी और न कभी उसके द्वारा रूप का ज्ञान हो सकेगा। इसी प्रकार जीव में जिस वेद का बन्ध होगा उसी के अनुसार वह पुद्गल-रचना करेगा और तदनुकूल ही उपांग उत्पन्न होगा। यदि ऐसा न हुआ तो वह वेद ही उदय में नहीं आ सकेगा। इसी कारण तो जीवन भर वेद बदल

नहीं सकता। यदि किसी भी उपांग सहित कोई भी वेद उदय में आ सकता तो कषायों व अन्य नो कषायों के समान वेद के भी जीवनमें बदलनेमें कौनसी आपत्ति आ सकती है।"

प्रो० सा० ने जो वेदों की विषमता का निषेध बताने में इन्द्रियों का दृष्टान्त दिया है वह आगम, हेतु और प्रत्यक्ष तीनों बातों से विरुद्ध है। इसमें पहली बात तो यह है कि एक ही जीवके पांचों द्रव्येन्द्रियां तो भिन्न २ होती हैं, परन्तु वेदोंकी पौद्गलिक रचना एक जीव के भिन्न २ तीन संख्या में नहीं है एक जीव के शरीर में द्रव्यवेद एक ही होता है, इस लिये द्रव्येन्द्रिय की रचना में इन्द्रियों की और वेदों की कोई समता नहीं आती है। इसी प्रकार भावेन्द्रियोंमें और भाव-वेदों में भी समता नहीं है। क्योंकि ज्ञानावरण की उत्तर-प्रकृतियों में मतिज्ञानावरण आदि पांच भेद बताये गये हैं और पांचों भावेन्द्रियां मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशम में ही गर्भित हो जाती हैं। परन्तु चारित्र मोहनीय कर्म की उत्तर प्रकृतियों में तीनों भाववेदों का उल्लेख जुदा २ किया गया है, इस लिये इन्द्रियों और वेदों में द्रव्य और भाव दोनों प्रकार से विरुद्ध रचनायें हैं। यदि द्रव्येन्द्रियां जैसे एक शरीर में पांचों बनी हुई हैं, वैसे यदि एक शरीर में द्रव्यवेद भी तीनों होते तो समता आ सकती थी परन्तु वैसी समता तो नहीं है।

इस लिये इन्द्रियों में तो यह बात है कि जैसा बाह्य निमित्त उपयोग के लिये मिलता है वही नाम और जैसा उप-

योग उस भावेन्द्रिय का होता है। जिस इन्द्रिय का जो क्षयो-पशम होता है वह इन्द्रिय अपने बाह्य निमित्तभूत उसी द्रव्ये-न्द्रिय द्वारा उपयोगात्मक बन जाती है। वहां जुदे २ पांचों ही बाह्य निमित्त हैं। परन्तु वेदों में तो ऐसा नहीं है, वहां तो इन्द्रिय-विधान से सर्वथा विपरीत ही रूप है। वेदों में भाववेद तो तीन हैं परन्तु एक जीव के द्रव्यवेद एक ही है। इस लिये तीनों भाववेदों का उदय व्यक्तरूप अथवा कार्यरूप होगा तो उसी एक बाह्य निमित्त द्वारा ही होगा। वहां भी यदि द्रव्येन्द्रिय के समान तीनों बाह्य निमित्त—तीन द्रव्यवेद होते तो तीनों भाववेद भी द्रव्येन्द्रियों की भिन्न २ रचना के समान अपने २ भाववेद का उदय अपने २ द्रव्यवेद द्वारा ही व्यक्त करते। परन्तु बाह्यवेद एक शरीर में एक ही है। इस लिये तीनों भाववेदों की व्यक्ति एक ही निमित्त द्वारा होती है।

इसी प्रकार यदि पांचों इन्द्रियों के स्थान में एक शरीर में यदि एक ही द्रव्येन्द्रिय होती तो पांचों भावेन्द्रियां उसी एक द्रव्येन्द्रिय निमित्त द्वारा ही उपयोग रूप हो जातीं परन्तु इन्द्रियां तो जुदी २ हैं। और न्याय सिद्धान्त का प्रसिद्ध एवं अकाट्य नियम है कि प्रत्येक कार्य अन्तरंग और बहिरंग कारणों से ही साध्य होता है। भाव की व्यक्ति द्रव्य बिना नहीं हो सकती है। और द्रव्य का उपयोग बिना भाव के नहीं हो सकता है। जहां जैसा निमित्त होता है उसी

के आधार पर उपादान शक्ति कार्य रूप परिणत हो जाती है। इस सब कथन से इन्द्रिय और वेदों का कोई दृष्टान्त दार्ष्टान्त-भाव सिद्ध नहीं हो पाता है। क्योंकि अन्तरंग और बहिरंग कार्य कलाप दोनों के सर्वथा विषम हैं।

दूसरी बात यह भी है कि जिस प्रकार भावेन्द्रिय के क्षयोपशम के अनुसार अंगोपांग आदि नामकर्मों के उदय से द्रव्येन्द्रिय की निवृत्ति होती है उस प्रकार वेदों की रचना नहीं है। भाववेद नो कषायके भेदरूप पुंवेद स्त्रीवेद नपुंसक वेद के उदय से होता है और द्रव्यवेद नामकर्म के शरीर, अंगोपांग तथा निर्माण आदि कर्मोदय से होता है। ऐसा नहीं है कि भाववेद के उदय के अनुसार ही द्रव्यवेद की रचना होती है। यदि ऐसा होता तो जैसे एक जीव के तीनों भाव वेद उदय में आते हैं तो उनके अनुसार द्रव्यवेद भी एक जीव के तीनों बन जाते। परन्तु यह प्रत्यक्ष-बाधित बात है। आगम में भी ऐसा नहीं बताया गया है कि भाववेद के अनु-सार द्रव्यवेद की रचना होती है।

यही बात राजवार्तिक में स्पष्ट की गई है। यथा—

नामकर्म-चारित्रमोह-नोकषायोदयाद्वेदत्रय-सिद्धिः। नामकर्मणश्चारित्रमोहविकल्पस्य नोकषायस्य चोदयाद्वेद-त्रयस्य सिद्धिर्भवति। वेद्यते इति वेदो लिङ्गमित्यर्थः। तल्लिंगं द्विविधं द्रव्यलिंगं भावलिङ्गञ्चेति। नामकर्मोदया-द्योनिमेहनादि द्रव्यलिंगं भवति। नोकषायोदयाद्भाव-

लिंगम् ।

(तत्वार्थ राजवार्तिक पृष्ठ ११०)

इसका अर्थ यही है कि लिंग दो प्रकार होते हैं— एक द्रव्यलिंग दूसरा भावलिंग । उनमें द्रव्यलिंग तो नाम कर्म के उदय से होता है, उसकी योनि मेहन आदि शरीर में नियत चिन्ह रूप रचना होती है। और चारित्र मोहनीय के भेद नोकषाय के उदय से तीन भाववेद होते हैं। यही कथन ज्यों का त्यों सर्वार्थ-सिद्धि आदि ग्रंथों में भी है। अधिक प्रमाण देना व्यर्थ है। इतना ही पर्याप्त है। इन प्रमाणों में यह बात कहीं भी नहीं मिल सकती है कि भाववेद के उदय के अनुसार ही द्रव्यवेद की रचना होती है।

'इसी प्रकार जीव में जिस वेद का बन्ध होगा उसी के अनुसार वह पुद्गल रचना करेगा और तदनुकूल ही उपांग उत्पन्न होगा यदि ऐसा न हुआ तो वह वेद ही उदय में नहीं आ सकेगा।'

यह प्रो० सा० का लिखना ऊपर के हमारे बहुत खुलासा कथन से सर्वथा खण्डित हो जाता है।

प्रो० सा० ने अनुभव, युक्ति और आगमसे शून्य तथा प्रत्यक्ष विरुद्ध अपनी बात को सिद्ध करने के लिये आगे और भी जो लिखा है वह ऐसा है जिसे पढ़कर हर कोई हंसे बिना नहीं रहेगा। और उनके कथन को प्रत्यक्ष-विरुद्ध सर्वथा निराधार एवं निस्सार समझेगा। पाठकों की जानकारी के

लिये उनके लेख की पंक्तियां हम यहां देते हैं—

"नौ प्रकार के जीवों की तो कोई संगति ही नहीं बैठती, क्योंकि द्रव्य में पुरुष और स्त्रीलिंग के सिवाय तीसरा तो कोई प्रकार ही नहीं पाया जाता जिससे द्रव्य नपुंसक के तीन अलग भेद बन सकें। पुरुष और स्त्रीवेद में भी द्रव्य और भाव के वैषम्य मानने में ऊपर बताई हुई कठिनाई के अतिरिक्त और भी अनेक प्रश्न खड़े होते हैं। यदि वैषम्य हो सकता है तो वेद के द्रव्य और भाव-भेद का तात्पर्य ही क्या रहा? किसी भी उपांग विशेष को पुरुष या स्त्री कहा ही क्यों जाय? अपने विशेष उपांग के बिना अमुक वेद उदय में आवेगा ही किस प्रकार? यदि आ सकता है तो इसी प्रकार पांचों इन्द्रिय ज्ञान भी पांचों द्रव्येन्द्रियों के परस्पर संयोग से पच्चीस प्रकार क्यों नहीं हो जाते? इत्यादि।"

पाठक ऊपर की प्रो० सा० की पंक्तियों को ध्यान से पढ़ लेवें। उनका कहना है कि स्त्रीवेद और पुरुषवेद तो ठीक है परन्तु नपुंसकवेद तो कोई द्रव्यवेद है ही नहीं। इस लिये द्रव्य नपुंसक के साथ जो अलग तीन भेद कहे गये हैं वे नहीं बन सकते हैं। प्रो० सा० स्त्री पुरुषों के सिवा किसी को नपुंसक नहीं समझते हैं तो वे यह बतावें कि हीजड़ा लोग जो सर्वत्र पाये जाते हैं, नाचना, गाना जिनका पेशा है। उन्हें वे पुरुष समझते हैं या स्त्री? कन्या अथवा बालक का बाह्य चिन्ह शरीर में देखकर छोटा बालक भी कह देता है कि यह

कन्या है या बालक है। ऐसी दशा में हीजड़ा को क्या समझा जाय ? उसके तो कन्या के समान योनि रूप चिन्ह भी नहीं होता है और पुरुष के समान लिंग भी नहीं होता है, तब वह हीजड़ा प्रो० सा० की समझ के अनुसार कौन से लिंग में लिया जायगा ? जो बात बिलकुल प्रत्यक्ष सिद्ध है जिसके सर्वत्र हजारों दृष्टान्त हैं उस प्रत्यक्ष नपुंसक के रहते हुए भी प्रो० सा० कहते हैं कि 'द्रव्य स्त्री और द्रव्य पुरुष के सिवा कोई नपुंसक द्रव्य लिंग होता ही नहीं है।' बहुत आश्चर्य की बात है।

इसके सिवा यह भी प्रत्यक्ष बात है कि जो द्रव्यस्त्री है वह द्रव्यपुरुष के साथ रमण करना चाहती है, जो द्रव्यपुरुष है वह द्रव्यस्त्री के साथ रमण करना चाहता है। तथा जो द्रव्य नपुंसक है वह द्रव्यस्त्री और द्रव्यपुरुष दोनों के साथ रमण करने की अभिलाषा रखता है। इसके सिवा इन तीनों द्रव्यलिंग वालों की कामाग्नि का संतुलन शास्त्रकारों ने तीन प्रकार की अग्नि से किया है। यथा—

"णेवित्थी णेवपुमं णउंसओ उहयलिंगविदिरित्तो।
इट्ठावग्गि समाणग वेदणगुरुओ कलुसचित्तो।
तिणकारिसिट्ठपागग्गिसरिसपरिणाम वेदणुम्मुक्का"।

(गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा २७४-२७५)

अर्थ—जो न तो स्त्री हो और न पुरुष हो ऐसे दोनों ही लिंगों से रहित जीव को नपुंसक कहते हैं। इस नपुंसक

के भट्टा में पकती हुई ईंट की अग्नि के समान तीव्र कषाय होती है। उसका चित्त सदैव कलुषित रहता है। पुरुष स्त्री और नपुंसक तीनों की कामग्नि का तरतम भाव शास्त्रकारों ने क्रम से तृण की अग्नि, कण्डे की अग्नि और ईंट के भट्टे की अग्नि के समान बताया है।

इस कथन से और उसी के अनुसार प्रत्यक्षमें हीजड़ों के देखने से जब नपुंसक द्रव्यवेदी मनुष्य पाये जाते हैं। तब 'दो ही वेद हैं, तीसरा वेद कोई नहीं हो सकता है, उसके तीन भेद भी नहीं बन सकते' आदि बातें प्रो० सा० की अनोखी सूझ मालूम होती है। क्या उन्होंने कर्म-सिद्धान्त को इसी रूप में समझा है और इसी गहरी सूझ और खोज के आधार पर ही वे भगवत्कुन्दकुन्दाचार्य को कर्म-सिद्धान्त और गुणस्थान-चर्चा का जानकार एवं व्यवस्थित-विवेचक नहीं समझते हैं?

नपुंसकवेद नहीं मानने से संमूर्छन-जन्म भी सिद्ध नहीं होगा

णेरइया खलु संढा णरतिरिये तिण्णि होंति सम्मुच्छा।
संढा सुरभोगभुमा पुरुसिच्छी वेदगा चेव ॥

(गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा ६३)

इस गाथा के अनुसार नारकी सभी नपुंसक लिंग वाले ही होते हैं, मनुष्य तिर्यञ्चोंमें तीनों वेद होते हैं, संमूर्छन जीव सभी नपुंसक लिंगी ही होते हैं। तथा देव और भोग-भूमि के जीव पुरुषवेदी और स्त्रीवेदी ही होते हैं। अर्थात्—

देव-नारकी, भोग-भूमिया तथा संमूर्छन जीव, इनका जो द्रव्यवेद होता है वही भाववेद होता है। किन्तु मनुष्य तिर्यञ्चों में समता तथा विषमता है।

इस कथन से भी नपुंसक वेद और वेदों की विषमता दोनों बातें सिद्ध होती हैं।

प्रो० सा० नपुंसकवेद नहीं मानते हैं। स्त्री और पुरुष में दो ही वेद मानते हैं। तब क्या संमूर्छनोंकी उत्पत्ति वे गर्भ से समझते होंगे? क्योंकि मनुष्य तिर्यञ्चों में जो स्त्री पुरुष-वेदी होते हैं, उनकी उत्पत्ति गर्भ से ही होती है। संमूर्छन भी मनुष्य तिर्यञ्चों में ही होते हैं। फिर तो सम्मूर्छन जन्म भी उनके मतसे नहीं बनेगा? शास्त्रकारोंने एकेन्द्रियसे चौइन्द्री तक के जीवों को संमूर्छन ही बताया है। पंचेन्द्रियों में तीनों जन्म वाले होते हैं। यह भी देखा जाता है कि दो-इन्द्रिय आदि जीव वेसन-छाछ आदि के योगसे तत्काल उत्पन्न हो जाते हैं। यदि वे जीव स्त्री-पुरुषवेदी माने जावें तो फिर उनकी उत्पत्ति वेसन-छाछ आदि के संयोग से नहीं होनी चाहिये किन्तु गर्भ से ही होनी चाहिये। इन बातों का उत्तर प्रो० सा० क्या देंगे?

इसके सिवा वृक्ष आदि वनस्पतियों में प्रो० सा० को स्त्रीवेद, पुरुषवेद का कोई चिन्ह प्रतीत होता है क्या? होता हो तो वे प्रगट करें? नहीं तो उन्हें नपुंसकवेद का अस्तित्व स्वीकार करना ही पड़ेगा। यदि वे यह कहें कि वृक्ष वनस्पति

के कोई लिंग नहीं होता तो वह बात कर्म-सिद्धान्त से सर्वथा बाधित है, कर्म-सिद्धान्त के अनुसार वृक्ष-वनस्पति आदि एकेन्द्रिय जीवों के अनन्तानुबन्धी कषाय एवं नपुंसकवेद नो-कषाय का बन्ध उदय सत्व बताया गया है। यदि वे उन जीवोंके भाववेदका उदय स्वीकार करते हैं तो उन्हें उनके द्रव्य वेद भी स्वीकार करना आवश्यक होगा। जब कि स्त्रीवेद-पुरुषवेद दो ही वेद वे स्वीकार करते हैं तो वृक्ष-वनस्पतियों में उनका बाह्य चिन्ह बतावें क्या है? शास्त्रकार से द्रव्य-नपुंसक लिंग के तो स्त्री पुरुष दोनों के बाह्य चिन्हों से रहित अनेक चिन्ह बताये गये हैं। उनमें देह रूप भी चिन्ह है वही एकेन्द्रिय के होता है। जैसा कि गोम्मटसार की वेद-मार्गणा की गाथाओं से स्पष्ट है।

हमने ऊपर आचार्य नेमिचन्द्र-सिद्धान्त चक्रवर्ती की गाथाओं का प्रमाण दिया है परन्तु प्रो० सा० नपुंसकवेद का अभाव बताकर उससे सर्वथा विपरीत और प्रत्यक्ष-बाधित बात कह रहे हैं तब उक्त सिद्धांत-चक्रवर्ती आचार्य भी भगवत्कुन्दकुन्दाचार्य के समान उनकी समझ में कर्म-सिद्धान्त के जानकार और व्यवस्थित-विवेचक नहीं ठहरे होंगे। हम पूछते हैं वैसा दिव्य गूढ़ तथा आगम एवं प्रत्यक्ष-विरुद्ध कर्म-सिद्धान्त का रहस्य उन्होंने कौनसे शास्त्रों से जाना है? सो तो प्रगट करें।

अब उनकी दो बातों का उत्तर भी इस प्रकार है—

पहली बात जो वे कहते हैं कि "यदि वैषम्य हो सकता है तो वेद के द्रव्य और भाववेद का तात्पर्य ही क्या रहा ?" तात्पर्य यही है कि एक द्रव्यवेद में अनेक भाववेद उदय में आ सकते हैं। इसी का नाम वैषम्य है और यह बात आगम से सिद्ध है। यह तो हम ऊपर धवलसिद्धान्त शास्त्र और गोम्मटसारादि शास्त्रोंसे बहुत खुलासा कर चुके हैं। इसके सिवा इस द्रव्य और भाववेद के वैषम्य का परिज्ञान प्रत्यक्ष अनुभव से भी सर्व आबाल-गोपाल प्रसिद्ध है। अनेक पुरुष, स्त्रियों के वेष-भूषा तथा चाल-ढाल आदि क्रियायें करते हुए देखे जाते हैं। अनेक स्त्रियां भी पुरुषों के समान वेश-भूषा और हाव-भाव बनाती हुई पाई जाती हैं। यह सब क्या है ?

द्रव्यवेद और भाववेद का ज्वलंत प्रत्यक्ष दृष्टान्त है। प्रो० सा० को विदित होना चाहिये कि इन भाववेदों के संस्कार-जनित वासनाओं के कारण असंख्यात भेद हो जाते हैं। महर्षियों ने संसारी जीवों की इन सब बातों को अपने दिव्य ज्ञान से अवधि एवं मनः-पर्यय ज्ञान से प्रत्यक्ष भी किया है, तभी ग्रन्थों में लिखा है और पूर्वाचार्यों के कथन का ही अनुसरण किया है। जिन आचार्यप्रवर नेमिचन्द्र सिद्धांत-चक्रवर्ती ने गोम्मटसार, लब्धिसार, क्षपणासार आदि ग्रन्थों में कर्मों का उदय सत्व, बन्ध, उद्वेलन, संक्रमण, भागहार, त्रिभंगी, कूट-रचना आदि के द्वारा अत्यन्त सूक्ष्म एवं जटिल गम्भीर कर्म की गुत्थियों को सुलझाया है, वे कर्म-सिद्धान्त के

कितने मर्मज्ञ थे यह बात क्या हम लोगों से वर्णनीय है ? बड़े बड़े महर्षिगण उसका महत्व बताते हैं।

इसके आगे और भी विचित्र बात उन्होंने लिखी है। वे लिखते हैं कि—

"किसी भी उपांग विशेष को पुरुष या स्त्री कहा ही क्यों जाय ?"

इस पंक्ति से उनका तात्पर्य यह है कि यदि पुरुष और स्त्री संज्ञा, भाववेद की अपेक्षा से ही लेते हो तो फिर स्त्रियों में चिन्ह विशेष (उपांग) द्वारा जो उनका नाम लिया जाता है वह व्यर्थ है ?

इसके उत्तर में उन्हें समझ लेना चाहिये कि गुण-स्थान-चर्चा में भाववेदकी अपेक्षा कथन है और द्रव्य की अपेक्षा स्त्री-पुरुष संज्ञा उपांग की पहचान से ही रक्खी जाती है।

यदि चिन्ह विशेष के देखते हुए भी किसी को पुरुष या स्त्री नहीं कहा जाय तो फिर स्त्री पुरुष का क्या तो लक्षण होगा ? और किस नाम से उनका व्यवहार होगा ? और स्त्री-पुरुष ये नाम और व्यवहार ही तो सृष्टि का मूलभूत हैं। इस सम्बन्ध में अधिक लिखना अनुपयोगी है। उत्तर पर्याप्त है। आगे वे लिखते हैं कि—

"अपने विशेष उपांग के बिना अमुक वेद उदय में आवेगा ही किस प्रकार ? यदि आ सकता है तो इसी

प्रकार पांचों इन्द्रिय ज्ञान भी पांचों द्रव्यइन्द्रियों के परस्पर संयोग से पच्चीस प्रकार क्यों नहीं हो सकते ?"

इन पंक्तियोंका बहुत खुलासा उत्तर हम ऊपर सप्रमाण एवं सयुक्तिक दे चुके हैं, इस लिये पुनरुक्ति अथवा पिष्ट-करना व्यर्थ है।

स्त्री-मुक्ति प्रकरण को समाप्त करते हुए प्रो० सा० ने फिर अपनी बात को दुहराया है। वे लिखते हैं कि—

"इस प्रकार विचार करने से जान पड़ता है कि या तो स्त्रीवेद से ही क्षपक श्रेणी चढ़ना नहीं मानना चाहिये और यदि माना जाय तो स्त्री-मुक्ति के प्रसंग से बचा नहीं जा सकता है। उपलब्ध शास्त्रीय गुणस्थान-विवेचन और कर्म-सिद्धान्त में स्त्री-मुक्ति के निषेध की मान्यता नहीं बनती।"

इन पंक्तियों में कोई नई बात अथवा शास्त्रीय प्रमाण एवं युक्तिवाद नहीं है केवल अपनी बात को अन्त में दुहराया गया है। हम ऊपर इन सब बातों का सप्रमाण एवं सयुक्तिक उत्तर दे चुके हैं। और यह बात भली भांति सिद्ध कर चुके हैं कि भाववेदकी तथा द्रव्य-पुरुष ही क्षपक श्रेणी चढ़ सकता है, द्रव्यस्त्री नहीं। इस सम्बन्धमें कर्म सिद्धान्त और गुणस्थानों का विवेचन भी हम कर चुके हैं। दिगम्बर शास्त्रों की मान्यता से स्त्री-मुक्ति किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं हो सकती।

प्रो० सा० उपर्युक्त हमारे लेख से अपना समाधान कर लेंगे ऐसी हम आशा करते हैं। स्त्री-मुक्ति के सम्बन्ध में

जो भी प्रमाण और युक्तियां प्रो० सा० ने अपने लेखमें दी हैं उन सबों का खण्डन शास्त्राधार से हम कर चुके हैं।

अब कुछ और भी ऐसे हेतुओंको संक्षेपमें यहां प्रगट करते हैं जिनसे द्रव्यस्त्रीका मोक्ष जाना असंभव ठहरता है, वे हेतु इस प्रकार हैं—

१—मोक्ष उसी शरीरसे हो सकती है जो पूर्ण सामर्थ्य-शाली हो, क्योंकि बिना शुक्ल-ध्यान की प्राप्ति के क्षपक श्रेणी नहीं माढ़ी जा सकती है और बिना क्षपक श्रेणीके मोक्षकी प्राप्ति असंभव है। शुक्ल-ध्यानकी प्राप्तिका कारण—उत्तम संहनन है, यथा—

उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमांतमुंहूर्तात्

(श्री तत्त्वार्थसूत्र)

उत्तम संहननों में आदि के तीन संहनन लिये जाते हैं परन्तु उनमें भी मोक्ष प्राप्ति का साक्षात् कारण केवल वज्र-वृषभनाराच संहनन ही है। यथा—

वज्रवृषभनाराचसंहननं, वज्रनाराचसंहननं, नाराच-संहननमेतत्त्रितयं संहननमुत्तमं, कुतो ध्यानादि-विशेष-वृत्ति-हेतुत्वात्, तत्र मोक्षस्य कारणमाद्यमेकमेव ।

(तत्त्वार्थ राजवार्तिक पृष्ठ ३४८)

अर्थात्—आदि के तीन संहनन उत्तम हैं, क्योंकि वे ध्यान के साधन हैं। परन्तु मोक्ष का कारण केवल पहला संहनन ही है।

उपर्युक्त कथन से यह बात सिद्ध हो चुकी कि मोक्ष का कारण केवल पहला बज्रवृषभनाराच संहनन ही है तो जिसके वह पहला संहनन नहीं है वह उस शरीर से मोक्ष जाने का सर्वथा अधिकारी नहीं है।

द्रव्यस्त्री के आदि के तीनों संहननों में से एक भी नहीं होता है उसके अन्तिम तीन संहनन होते हैं। यथा—

अन्तिम तिय संहणणस्सुदओ पुण कम्मभूमिमहिलाणं।
आदिम तिग संहणणं णत्थित्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं॥
(गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा ३२)

अर्थ—कर्म भूमि की स्त्रियों के अन्त के तीन संहननों का ही उदय होता है। आदि के तीन संहनन उनके नहीं होते हैं, ऐसा श्री जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

इस गाथासे यह बात सिद्ध हो जाती है कि जब स्त्रियों के आदि के तीन संहननों में से कोई भी नहीं होता है, तब वह ध्यान की पात्र ही नहीं है। और बिना ध्यानके क्षपक श्रेणी नहीं हो सकती है। अतः स्त्री मुक्ति प्राप्त करने की सर्वथा पात्र नहीं है।

स्त्री के आदि के तीन संहनन नहीं होते यह बात जैसे शास्त्राधार से सिद्ध है उसी प्रकार युक्तिसे भी सिद्ध है। स्त्रियों के स्तन आदि होने के कारण शारीरिक रचना ही इतनी कोमल और शक्तिहीन होती है कि वह कठिन व्यायाम और कठोर आसन आदि के करने में भी सर्वथा असमर्थ है।

बालक की उत्पत्ति का कारण गर्भाशय का होना भी उसकी हीन शक्तिक शरीर रचना का हेतु है। इसके सिवा शक्ति का मूल कारण शरीर में वीर्य होता है वह वीर्य ही प्रधान धातु माना गया है। परन्तु स्त्री के वीर्य बनता ही नहीं है किन्तु रज मात्र बनता है। इस लिये वीर्य-शक्ति का अभाव होने से वह पुरुषों के समान पुरुषार्थ करने में सर्वथा असमर्थ है।

२—स्त्री मोक्ष की अधिकारिणी नहीं है इसका दूसरा हेतु यह है कि वह सामर्थ्य कम होने से अथवा शरीर-संहनन हीन होने से वह सोलहवें स्वर्ग से ऊपर नवग्रैवेयिक अनुदिश और अनुत्तर विमानों में भी नहीं जा सकती है ऐसा नियम है। यथा—

सेवट्टेण य गम्मदि आदीदो चदुसु कप्पजुगलोत्ति।
तत्तो दुजुगल जुगले खीलिय णाराय णद्धोत्ति॥
(गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा २६)

अर्थ—असंप्राप्त-सृपाटिका (सबसे हीन संहनन अन्तिम) संहनन वाले आदि के चार युगल तक ही स्वर्गों में जा सकते हैं। कीलक संहनन वाले आगे के दो युगलों में उत्पन्न हो सकते हैं तथा अर्धनाराच संहनन वाले जीव उनसे भी आगे के दो युगलोंमें उत्पन्न हो सकते हैं। इस आर्ष प्रमाण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि स्त्री अधिक से अधिक अर्ध-नाराच संहनन होने के कारण सोलहवें स्वर्ग से ऊपर नहीं जा सकती है। जब कर्म सिद्धान्त की व्यवस्था उसे सोलहवें

स्वर्ग से आगे जाने में भी बाधक है। क्योंकि उत्तम संहनन नहीं होने से वह सामर्थ्य हीन है तो फिर पूर्ण सामर्थ्य (केवल प्रथम संहनन) से प्राप्त होने वाली मोक्षकी अधिकारिणी वह किस प्रकार बन सकती है? नहीं बन सकती।

जिस प्रकार स्त्री सामर्थ्यहीन होने से सोलहवें स्वर्गसे ऊपर नहीं जा सकती है उसी प्रकार वह छठे नरक से आगे सातवें में भी नहीं जा सकती है। यहां पर नरक जाने का और मोक्ष जाने का कोई अविनाभाव नहीं है, किन्तु सामर्थ्य का विचार है। पूर्ण सामर्थ्य वाला ही सातवें नरक जा सकता है। अतः स्त्री सामर्थ्यहीन होने से मोक्ष की अधिकारिणी नहीं है।

३—स्त्री-मुक्ति में बाधक तीसरा हेतु यह भी है कि स्त्री पर्याय को इतना निन्द्य और हीन माना गया है कि फिर यदि किसी जीव के मनुष्यायु का बन्ध भी हो जाय परन्तु पीछे से उसको सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो जाय तो वह जीव मरकर मनुष्यपर्यायमें जाकर पुरुष ही होगा। सम्यग्दर्शन सहित स्त्री-पर्यायमें नहीं जा सकता है। ऐसा नियम है। यथा—

"मानुषीणां त्रितयमप्यस्ति पर्याप्तकानामेव, नापर्याप्तकानाम्।"

(सर्वार्थसिद्धि पृष्ठ ११)

अर्थ—मानुषी के—द्रव्यस्त्री के तीनों ही प्रकार का सम्यग्दर्शन हो सकता है, परन्तु पर्याप्त अवस्था में ही हो

सकता है, अपर्याप्त अवस्था में नहीं। अर्थात्—स्त्रियों के अपर्याप्त अवस्था में कोई सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता है।

इस कथन से यह बात भली भांति सिद्ध हो जाती है कि स्त्री-पर्याय इतनी निन्द्य पर्याय है जिसमें सम्यग्दृष्टि जीव मरकर आ नहीं सकता। तब वह पर्याय मोक्ष के लिये तो नितांत अपात्र है।

४—स्त्री-मुक्ति में बाधक चौथा हेतु यह है कि वह सकल संयम (महाव्रत) धारण करने में उस पर्याय में सर्वथा असमर्थ है। उसके कई कारण हैं एक तो यह कारण है कि वह हीन शक्तिक होने से उत्तम संयम धारण नहीं कर सकती है। दूसरा कारण यह है कि उसकी शरीरकी अशुद्धि संयम धारण करने में पूर्ण बाधक है, क्योंकि उसके मासिक रजस्राव समय पर अथवा असमयमें भी सदैव होता रहता है उस अवस्था में वह नितान्त अशुद्ध बन जाती है। यहां तक कि वह मुखसे प्रगट रूपमें शास्त्रीय पाठों का उच्चारण भी नहीं कर सकती है वैसी अवस्था में उसकी संयम की विशुद्धि कैसे रह सकती है? नहीं रह सकती। इसी लिये स्त्री को आर्यिका अर्थात् पंचम गुणस्थान तक पात्रता प्राप्त करने का ही अधिकार है। वह छठे गुणस्थान की महाव्रत की अधिकारिणी नहीं है। यथा—

देशव्रतान्वितैस्तासारोप्यते बुधैस्ततः।
महाव्रतानि सज्जातिज्ञप्त्यर्थमुपचारतः॥ सं. व. वि.

अर्थात्—स्त्रियों में देशव्रत ही हो सकते हैं। महाव्रतों का उनमें केवल उपचार किया जाता है। इसका मूल कारण यही है कि वह वस्त्रोंका परित्याग करने में सर्वथा असमर्थ है। वह वस्त्र-त्याग करनेमें असमर्थ क्यों है? इसके कई अनिवार्य कारण हैं—एक तो यह कि स्त्री के शारीरिक अंगोपांग इस प्रकार के होते हैं कि जिन्हें देखकर दूसरों को विकार हो सकता है, उसे दूर करनेके लिये वस्त्र धारण करना आवश्यक है। दूसरे स्त्री में लज्जा स्वाभाविक धर्म है उसकी बाध्यता भी उसके वस्त्र-मोचनमें असमर्थ है।

तीसरे—स्त्रीको मासिक धर्म आदिकी प्राकृतिक शारीरिक मलिनता ऐसी रहती है जिसके लिये वस्त्र धारण करना उसके लिये आवश्यक है। इन सब कारणों से जब स्त्री इच्छापूर्वक वस्त्र धारण करती है तब सवस्त्र अवस्थामें उसके महाव्रत कैसे हो सकते हैं? अर्थात् नहीं हो सकते हैं। तथा नग्नताके बिना स्त्री के छठा गुणस्थान भी नहीं हो सकता है, फिर क्षपक श्रेणी एवं मोक्ष की बात तो कोसों दूर है।

स्त्रीणां संयमो न मोक्ष-हेतुः नियमेनर्द्धि-विशेषाहेतुत्वान्यथानुपपत्तेः। यत्र हि संयमः सांसारिक-लब्धीनामप्यहेतुस्त्रासौ कथं निःशेषकर्म-विप्रमोक्ष-लक्षणं मोक्ष-हेतुः स्यात्। नियमेन च स्त्रीणामेव ऋद्धिविशेषहेतुः संयमो नेष्यते। न तु पुरुषाणाम्॥

(प्रमेय कमल मार्तण्ड पृ० ६४)

अर्थात्—स्त्रियों में इतना भी संयमभाव नहीं हो सकता है जो ऋद्धि विशेष को उनमें उत्पन्न कर सके तो फिर मोक्ष-साधक संयमकी प्राप्ति तो सर्वथा असम्भव है। स्त्रियोंमें उस प्रकार के संयम की प्राप्तिका सर्वथा निषेध है। पुरुषों में निषेध नहीं है। आचार्य-धुरीण प्रभाचंद्र के कथन से भी स्त्रियों में संयम का अभाव और मोक्षका निषेध स्पष्ट सिद्ध है। स्त्री को वस्त्र धारण करने से मोक्ष क्यों नहीं होती? अथवा उसके महाव्रत क्यों नहीं हो सकते हैं? इस बात का खण्डन हम आगे 'सवस्त्र अवस्थामें मुक्तिकी प्राप्ति सर्वथा असम्भव है' इस प्रकरण में करेंगे।

इस लिये यहांपर इतना लिखना ही पर्याप्त है कि मोक्ष की साधन-भूत रत्नत्रय-रूप सामग्री की पात्रता नहीं होने से स्त्री मोक्षाधिकारिणी नहीं हो सकती है।

एक बात यह भी स्त्री मुक्तिके निषेधमें बहुत महत्त्व-पूर्ण एवं स्त्री-मुक्ति की जड़को ही उखाड़ देती है कि शास्त्रों में बताया गया है कि भावस्त्री के ही संयम एवं मोक्ष प्राप्ति बताई गई है। द्रव्यस्त्री के नहीं। क्योंकि मोक्ष के साधक संयम को प्राप्त करने वाला जीव स्त्रीलिंग का पहले ही छेद कर देता है। स्त्री-पर्याय ही सर्वथा नष्ट हो जाती है। संयमीके लिये ऐसा विधान है कि जो रत्नत्रयाराधक पुरुष है वह अधिकसे अधिक ७-८ भवों में और जल्दी से जल्दी २-३ भवों में मुक्ति प्राप्त कर लेता है, परन्तु ऐसा रत्नत्रय का धारक पुरुष फिर स्त्री

पर्याय में उत्पन्न ही नहीं होता है।

अर्थात्—सम्यग्दर्शन सहित संयमी पुरुष मरकर स्त्री पर्याय में कभी उत्पन्न ही नहीं हो सकता है। इस अवस्थामें जब मोक्षगामी पुरुष के स्त्री पर्याय का ही सर्वथा अभाव हो जाता है तब स्त्री के मोक्ष जाने की बात ही नहीं रहती है। जिसका बीज ही नहीं रहता उसका वृक्ष कहांसे होगा ? अतः द्रव्यस्त्री के मोक्ष की प्राप्ति सर्वथा असम्भव है। यह बात हेतुवाद, युक्तिवाद एवं आगम प्रमाणों से सुनिश्चित एवं सुसिद्ध है। यह बात सभी चारित्र ग्रन्थों में एवं पुराण शास्त्रों में सुप्रसिद्ध है कि स्त्री लिंग का पहले छेदन हो जाता है। स्त्रीलिंग का छेद हुए बिना संयम की प्राप्ति सर्वथा असम्भव है। इस सम्बन्ध में आचार्यवर्य प्रभाचन्द्र ने नीचे लिखे वाक्य बड़े महत्त्व के दिये हैं—

उदयश्च भावस्यैव न द्रव्यस्य स्त्रीत्वान्यथानुपपत्तेश्चासां न मुक्तिः। आगमे हि जघन्येन सप्ताष्टभिर्भवैरुत्कर्षेण द्वित्रै-र्जीवस्य रत्नत्रयाराधकस्य मुक्तिरुक्ता। यदा चास्य सम्यग्दर्शना-राधकत्वं तत्प्रभृति सर्वासु स्त्रीषूत्पत्तिरेव न संभवतीति कथं स्त्री-मुक्ति सिद्धिः ?

(प्रमेयकमल मार्तण्ड पृष्ठ ६५–६६)

इसका अर्थ ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है।

इसी सम्बन्ध में भगवज्जिनसेनाचार्य आदि पुराणमें लिखते हैं :—

सद्दृष्टेः स्त्रीष्वनुत्पत्तिः पृथिवीष्वपि षट्स्वधः ।
त्रिषु देवनिकायेषु नीचेष्वन्येषु वांम्बिके ॥
धिगिदं स्त्रैणमश्लाघ्यं नैर्ग्रन्थ्यप्रतिबंधि यत ।
कारीषाग्निनिभं तापं निराहुस्तत्र तद्विदः ॥
तदेतत्स्त्रैणमुत्सृज्य सम्यगाराध्य दर्शनम ।
प्राप्तासि परमस्थान सप्तकं त्व-मनुक्रमात ॥
(श्री आदिपुराण पर्व ६ पृष्ठ २१६)

इन श्लोकों की हिन्दी टीका जो श्रीमान धर्मरत्न विद्वद्वर्य पं० लालाराम जी शास्त्री महोदय ने की है यह है—

"हे मातः ! सम्यग्दृष्टि जीव स्त्री पर्याय में उत्पन्न नहीं होता है तथा दूसरे से सातवें तक नीचे के छह नरकों में, भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष्क इन तीनों प्रकारोंके देवों में और एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असैनी पंचेन्द्रिय आदि अन्य नीच कुलों में भी कभी उत्पन्न नहीं होता है। इस निन्द्य स्त्री पर्याय को धिक्कार हो। यह स्त्री-पर्याय निर्ग्रन्थ मुनियों का धर्म पालन करने के लिये प्रतिबन्धक है और इस पर्याय में विद्वानों ने कारीष जाति की अग्नि के (सूखे गोबर की अग्नि के) समान तीव्र काम का सन्ताप निरूपण किया है। हे मात ! अब तू सम्यग्दर्शन का आराधन कर और इस निन्द्य स्त्री पर्याय को छोड़कर अनुक्रम से उत्कृष्ट जाति श्रावक के व्रत, यति के व्रत, इन्द्रपद, चक्रवर्तीका पद, केवलज्ञान और निर्वाण इन सातों परम स्थानों को प्राप्त होगी।"

इसी सम्बन्धमें आचार्य समन्तभद्र स्वामीने कहा है—

सम्यग्दर्शनशुद्धा नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि ।
दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः ॥

(रतनकरंड श्रावकाचार)

अर्थात्—अव्रत सम्यग्दृष्टि जीव मरकर नरक, तिर्यंच नपुंसक और स्त्रीपर्याय तथा नीच कुल, विकृत शरीर, अल्पायु, दरिद्रता को प्राप्त नहीं करते हैं। इससे स्त्री पर्याय की निंद्यता एवं संयम की अपात्रता का परिचय स्पष्ट सिद्ध है।

संयमी और वस्त्रत्याग

प्रो० हीरालाल जी ने स्त्री-मुक्ति के पीछे 'संयमी और वस्त्रत्याग' शीर्षक देकर यह बताया है—"वस्त्र पहने हुए भी संयमी मोक्ष को प्राप्त कर सकता है।" इस सम्बन्ध में उन्हों ने यह पंक्तियां लिखी हैं—

"श्वेताम्बर सम्प्रदाय की मान्यतानुसार मनुष्य वस्त्र-त्याग करके भी सब गुणस्थान प्राप्त कर सकता है और वस्त्र का सर्वथा त्याग नहीं करके भी मोक्ष का अधिकारी हो सकता है। पर प्रचलित दिगम्बर मान्यतानुसार वस्त्र के सम्पूर्ण त्याग से ही संयमी और मोक्ष का अधिकारी हो सकता है। अतएव इस विषय का शास्त्रीय चिंतन आवश्यक है।"

सब से पहले हम इस सवस्त्र संयम और सवस्त्र मोक्ष

प्राप्ति के सम्बन्ध में श्री कुन्दकुन्दाचार्य का मत प्रगट करते हैं—

निच्चेल पाणिपत्तं उवइट्ठं परम जिणवरिंदेहिं ।
एक्कोवि मोक्खमग्गो सेसाय अमग्गया सव्वे ॥
बालग्ग कोडिमत्तं परिगहगहणं ण होइ साहूणं ।
भुंजेइ पाणिपत्ते दिण्णण्णं इक्कठाणम्मि ॥
जहजायरूवसरिसो तिलतुसमेत्तं न गिहदि हत्थेसु ।
जइ लेइ अप्प बहुयं तत्तो पुण जाइ णिग्गोदं ॥
जस्स परिग्गहगहणं अप्पं बहुयं च हवइ लिंगस्स ।
सो गरहिउ जिणवयणे परिगहरहिओ निरायारो ॥
पंचमहव्वयजुत्तो तिहि गुत्तिहि जो स संजदो होदि ।
णिग्गंथ मोक्खमग्गो सो होदि हु वंदणिज्जोय ॥
णवि सिज्झइ वत्थधरो जिणसासणे जइ विहोइ तित्थयरो ।
णग्गो विमोक्ख मग्गो सेसा उम्मग्गया सव्वे ॥
(भगवत्कुंदकुंदाचार्यः षट् प्राभृतादिसंग्रहे)

अर्थ—मुनि वस्त्र रहित ही होते हैं और वे पाणिपात्र में ही भोजन करते हैं ऐसा सर्वज्ञ भगवान ने बताया है। मोक्षमार्ग एक निर्ग्रन्थ लक्षण स्वरूप ही है। अर्थात् नग्न दिगम्बर स्वरूप ही मोक्षमार्ग है। बाकी के सब मत संसार के ही कारण हैं।

बाल के अग्रभाग बराबर भी वस्त्रादि परिग्रह का ग्रहण दिगम्बर साधुओं के नहीं होता है। और एक स्थान में दूसरों से दिया हुआ आहार अपने हाथ में लेकर ही वे ग्रहण

करते हैं। यथाजात रूप सर्वज्ञ वीतराग भगवान हैं, उन्हीं के समान दिगम्बर मुनि सर्वदा नग्न रहते हैं। बालक के समान भी नग्न कह सकते हैं। परन्तु नग्न रहने पर भी बालक वीतराग नहीं है। इस लिये वीतराग सर्वज्ञ भगवान के समान नग्न मुनियों को कहा गया है। वे अपने हाथों में तिलतुष पात्र परिग्रह भी ग्रहण नहीं कर सकते हैं यदि थोड़ा भी ग्रहण कर लेवें तो निगोद के पात्र बन जाते हैं।

श्वेताम्बरादि मतों का खण्डन करते हुए भगवान कुन्दकुन्द कहते हैं कि जिसके यहां थोड़ा बहुत परिग्रह का ग्रहण बताया गया है वह वेष महावीर भगवान के दिगम्बर शासन में निन्दनीय है। क्योंकि परिग्रह रहित ही अनगार मुनि होता है।

संयमी का लक्षण बताते हुए भगवान कुन्दकुन्द कहते हैं कि जो पंच महाव्रतों से सहित है, तीन गुप्तियों को धारण करता है वही संयमी कहलाता है। ऐसा निर्ग्रन्थ नग्न वीतराग मुनि ही वन्दनीय है। क्योंकि मोक्षमार्ग निर्ग्रन्थ ही होता है। इसी गाथा की संस्कृत टीका में श्रीमत् श्रुत-सागराचार्य लिखते हैं —

"यः सग्रन्थमोक्षमार्गं मन्यते स मिथ्यादृष्टिर्जैनाभास-श्चावन्दनीयो भवति।"

अर्थात्—जो परिग्रह सहित मोक्षमार्ग को मानता है वह मिथ्यादृष्टि और जैनाभास है, वह कभी वन्दनीय नहीं

हो सकता है।

इस सब कथन से बढ़कर भगवान कुन्दकुन्द वस्त्र-सहित संयम अथवा मुनिपद मानने का घोर निषेध करते हुए यहां तक कहते हैं कि और साधारण मुनि केवली आदि की तो बात ही क्या है यदि पञ्चकल्याणक प्राप्त करने वाले तीर्थंकर भगवान भी वस्त्रधारी हों तो वे भी संयम और मोक्ष-प्राप्ति कभी नहीं कर सकते हैं। ऐसा ही जैन शासन का सिद्धान्त है। क्योंकि मोक्षमार्ग सर्वथा नग्न है उसमें वस्त्र आभरण का सर्वथा त्याग है। बाकी जो सवस्त्र संयम और मोक्ष मानते हैं वे सब उन्मार्ग–मिथ्यामार्ग हैं।

भगवान कुन्दकुन्द के इस कथन से स्पष्ट सिद्ध है कि वस्त्र सहित अवस्था में संयम नहीं हो सकता है। फिर मोक्ष की प्राप्ति तो सर्वथा असम्भव है। इसका कारण भी यही है कि परिग्रह को मूर्छा बताया गया है। अर्थात्—तिल मात्र भी परिग्रह क्यों न हो वह ममत्व-बुद्धि करने वाला है और जहां ममत्वभाव है वहां वीतरागता नहीं आ सकती है। तथा विना वीतरागता के परम विशुद्धि आत्मा में नहीं हो सकती है। यदि वस्त्र सहित ही संयम हो जाता तो दिगम्बर जैन धर्म में यह एकांत सर्वथा नियम नहीं होता कि बिना सर्वथा वस्त्र त्याग किये जिनदीक्षा नहीं हो सकती है। जब तक वस्त्रों का सर्वथा त्याग नहीं किया जाता है तब तक आत्मा में संयम की प्राप्ति अथवा छठा गुणस्थान नहीं हो सकता है।

भरत महाराज का वैराग्य घर में रहकर भी बहुत ही बढ़ा चढ़ा हो चुका था। परन्तु उन्होंने जब तक घर छोड़ कर वन में आकर वस्त्र-त्याग नहीं किया, तब तक केवल-ज्ञान का साधक संयम भाव उनके जागृत नहीं हो पाया। वस्त्र-त्याग करते ही झटपट संयम की प्राप्ति हो गई और अन्तर्मुहूर्त में ही उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। वैराग्य की पराकाष्ठा होने पर भी भरत महाराज को घर में ही सवस्त्र अवस्था में केवलज्ञान क्यों नहीं हुआ ? इसका उत्तर यही है कि इच्छापूर्वक वस्त्र ग्रहण होने से ममत्वभाव का पूर्ण त्याग तब तक नहीं हो सकता था।

और की तो बात ही क्या ? तीर्थंकर भगवान भी वैराग्य भावना भाते हैं परन्तु वे जब घर छोड़कर वनमें जाकर वस्त्र-त्याग करते हैं तभी उनके छठा गुणस्थान--संयम प्राप्ति और मनःपर्यय ज्ञान उत्पन्न होता है। क्योंकि मनःपर्यय ज्ञान संयम के बिना नहीं होता है और संयम छठे गुणस्थान के बिना नहीं होता है और छठा गुणस्थान वस्त्र-त्याग किये बिना नहीं होता है। यह कथन गुणस्थान क्रमकी अपेक्षा से है, भावों की विशुद्धि की अपेक्षा से पहले सातवां गुणस्थान होता है। इससे भली भांति सिद्ध है कि वस्त्रत्याग में ही संयम की प्राप्ति हो सकती है। अन्यथा नहीं।

दिगम्बर जैन धर्म में जहां तक एक कौपीन (लंगोटी) मात्र भी ग्रहण की जाती है वहांतक भी वीतराग मुनिपद नहीं

हो पाता है, किन्तु वहां तक वह उत्कृष्ट श्रावक ही कहलाता है।

वस्त्रों के विषय में श्री शुभचन्द्राचार्य ने एक श्लोक में ही बहुत कुछ खुलासा कर दिया है। वे लिखते हैं—

म्लाने क्षालयतः कुतः कृतजलाद्यारंभतः संयमः,
नष्टे व्याकुलचित्तताथ महतामप्यन्यतः प्रार्थनम्।
कौपीनेऽपि हृते परैश्च झटिति क्रोधः समुत्पद्यते,
तन्नित्यं शुचि रागहृत शमवतां वस्त्रं ककुम्मण्डलम्॥

अर्थात्—यदि मुनि कपड़ा रखने लगे तो अनेक प्रकार की आकुलताएं उसके चित्त में चंचलता पैदा करती रहेंगी जैसे वस्त्र यदि मैला हो जाय तो धोना पड़ेगा, उसके लिये जल का आरम्भ करना पड़ेगा। आरम्भ करने से जीव-हिंसा होगी, संयम नष्ट हो जायगा। यदि वस्त्र नष्ट हो जाय तो चित्त में क्षोभ होगा, फिर दूसरे वस्त्र की चिन्ता होगी। श्रावकों से याचना करनी पड़ेगी। यदि कोई लंगोटी भी उठा ले जाय तो झट क्रोध उत्पन्न हो जायगा। चूहे काट डालें तो भी चित्त में खेद होगा। उस लंगोटीकी सम्हाल, रक्षा आदि सब बातों की चिन्ता करनी पड़ेगी। ऐसी दशा में कहां निराकुलता, कहां संयम, कहां वीतरागता; सब बातें नष्ट हो जाती हैं। इस लिये साधु का जैसा निवृत्ति मार्ग है उसके लिये दिशारूपी वस्त्र ही (दिगम्बर नग्न रूप ही) उपर्युक्त सब आकुलताओं को एवं रागभाव को हटाने वाला है।

यह सब कथन कितना सुन्दर एवं युक्तिपूर्ण है। अस्तु।

अब हम यहां पर यह बता देना चाहते हैं कि जो वस्त्र-त्याग के सम्बन्ध में भगवान कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है वही कथन सभी दिगम्बराचार्यों ने कहा है वही सब कुछ शास्त्रों में पाया जाता है। जो वस्त्र-त्याग का सिद्धान्त भगवान कुन्दकुन्द ने कहा है वही दिगम्बर जैन धर्म का मोक्ष-प्रदायक मूल सिद्धान्त है अथवा जो दिगम्बर जैन धर्म का मूल सिद्धान्त है वही भगवान कुन्दकुन्द ने कहा है। भगवान कुन्दकुन्द का सिद्धान्त ही समस्त आचार्य और समस्त शास्त्रों का कथन है। किसी भी दिगम्बर जैनाचार्य के मत से सवस्त्र संयम एवं सवस्त्र मुक्ति सिद्ध नहीं हो सकती है।

दिगम्बर जैनधर्म में जिस प्रकार श्रावक का स्वरूप बिना अष्ट मूल गुण के नहीं बन सकता उसी प्रकार मुनि का स्वरूप भी बिना अट्ठाईस मूल गुणों के नहीं बन सकता है। अट्ठाईस मूल गुणों में नग्नता प्रधान गुण है। और वह अवश्यम्भावी अनिवार्य गुण है। उसके बिना मुनिपद ही नहीं रह सकता है। यहां तक शास्त्रों में बताया गया है कि प्रमादादि कारणों से पुलाक जाति के मुनियों के कभी कदाचित इन मूल गुणों में भी किसी गुण की विराधना हो सकती है परन्तु नग्नत्व गुण की विराधना नहीं हो सकती। जहां उसकी विराधना होगी वहां फिर मुनिपद ही नहीं रहेगा। इस कथन से यह बात स्पष्ट सिद्ध है कि दिगम्बर जैन सिद्धान्तानुसार साधु का स्वरूप बिना सर्वथा वस्त्र-त्याग किये नहीं बन

सकती है। इस लिये दिगम्बर जैनधर्म में वस्त्र सहित अवस्था में संयम भाव, साधुपद, वीतरागता एवं मोक्ष प्राप्ति सर्वथा असम्भव है। साधुके अट्ठाईस मूल गुणोंमें अचेलक (वस्त्र-रहित) का स्वरूप आचार्य वट्टकेर स्वामी ने इस प्रकार कहा है—

वत्थाजिण वक्केणय अहवा पत्तादिणा असंवरणं।
णिब्भूसण णिग्गंथं अच्चेलक्कं जगदिपूज्जं ॥

(मूलाचार पृष्ठ १३)

अर्थ—कपास, रेशम, रोम के बने हुए वस्त्र मृगछाला आदि चर्म, वृक्षादि की छाल, सन, टाट अथवा पत्ता, तृण आदि से शरीर को नहीं ढकना, कोई आभूषण नहीं पहनना, संयम के विनाशक किसी भी परिग्रह को धारण नहीं करना ऐसा वस्त्राभूषण आदि सबों से रहित अचेलक व्रत (नग्नता) है। यह वीतराग नग्नता तीनों लोक के जीवों से पूज्य है। परम विशुद्धता का साधक है। इस नग्नगुण से साधु पूर्ण ब्रह्मचर्य में दृढ़ रहता है, सिंहवृत्ति से रहता है, नग्न गुण के कारण आरम्भ, परिग्रह हिंसा, प्रक्षालन दोष, याचना दोष आदि कोई भी दोष नहीं होता है।

और भी निर्ग्रन्थ साधुओं के विषय में आचार्य वट्टकेर स्वामी ने स्पष्ट लिखा है। यथा—

लिंगं वदं च सुद्धी।

(मूलाचार पृष्ठ ३७)

इस गाथा की संस्कृत टीका में आचार्य वसुनंदि ने लिखा है—

"लिंगं निर्ग्रन्थरूपता, शरीर-सर्व-संस्काराभावोऽचेलकत्वलोच-प्रतिलेखन-ग्रहण--दर्शनज्ञान-चारित्रतपोभावश्च व्रतान्यहिंसादीनि।"

अर्थात्—वस्त्रादि रहित निर्ग्रन्थ लिंग, शरीर में सब संस्कारों का अभाव, अचेलकत्व, नग्नता गुण, केशलोच, मयूर पिच्छिका ग्रहण, सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप अहिंसादि पांच महाव्रत, ये सब दि० साधुओं के लक्षण हैं।

जिस बात को भगवान कुन्दकुन्द ने कहा है उसी को स्वामी वट्टकेर आचार्य ने कहा है। यथा—

सव्वारंभणियत्ता जुत्ता जिणदेसिदम्मि धम्मम्मि।
णय इच्छंति ममत्तिं परिग्गहे वालमित्तम्मि॥

(मूलाचार पृष्ठ ४३)

अर्थ—दिगम्बर जैनधर्म में साधुओं का यही स्वरूप है कि वे समस्त आरम्भ, समस्त परिग्रह से रहित होते हैं और बालमात्र भी परिग्रह में उनका ममत्व नहीं होता है।

वस्त्र-त्याग किये बिना मुनिपद नहीं हो सकता, इसके लिये संयम विधायक सभी ग्रन्थ एकमत से प्रमाण हैं, उन सब प्रमाणों को देने से यह लेख एक बड़ा शास्त्र बन जायगा, इस लिये उन सब ग्रन्थों का प्रमाण देना आवश्यक नहीं है। ऊपर जो प्रमाण दिये गये हैं वे ही पर्याप्त हैं परन्तु भगवान कुंदकुंद

के वस्त्र-त्याग के सिद्धान्त कथन से दूसरे दिगम्बर जैनाचार्यों के कथन भिन्न हैं, वे सवस्त्र संयम भी बताते हैं। ऐसा जो प्रो० सा० कहते हैं, यहां पर हम उन्हीं के कथन पर विचार करते हैं।

प्रो० सा० सवस्त्र-संयम सिद्ध करने के लिये नीचे लिखे दिगम्बर शास्त्रों के प्रमाण देते हैं। वे लिखते हैं कि—

"दिगम्बर सम्प्रदाय के अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ 'भगवती आराधनामें' मुनि के उत्सर्ग और अपवाद मार्ग का विधान है जिसके अनुसार मुनि वस्त्र धारण कर सकता है। देखो गाथा (७९–८३)।"

इन पंक्तियों से भगवती आराधना के आधार पर प्रो० सा० "साधु वस्त्र धारणकर सकता है" कहते हैं। परन्तु वे यदि भगवती आराधना की ७९–८३ गाथाओं का अर्थ अच्छी तरह समझ लेते तो मुनि को वस्त्र धारण करने की बात नहीं कहते। देखिये—

आवसधे वा अप्पाउग्गो जो वा महड्ढिओ हिरिमं।
मिच्छजणे सजणे वा तस्स होज्ज अववादियं लिंगं॥

(भगवती आराधना गाथा ७९)

इस गाथा का अर्थ यह है कि जो पुरुष अपने ऐसे निवास स्थान में रहता है जो अनेक जनों से भरा हुआ है। अर्थात् एकांत स्थान नहीं है। और जो स्वयं श्रीमान है अर्थात् बड़ी हुई सम्पत्ति का स्वामी है तथा जो लज्जावान भी है।

तथा जिसके बंधु–बांधव व कुटुम्बीजन मिथ्यादृष्टि हैं ऐसे गृहस्थ के अपवाद लिंग ही होता है। अर्थात् वैसा गृहस्थ सवस्त्र ही रहता है। उसके लिये उत्सर्गलिंग के धारण करने की शास्त्राज्ञा नहीं है।

इसका खुलासा अर्थ यह है कि लिंग दो प्रकार के होते हैं एक उत्सर्ग, दूसरा अपवाद लिंग। जिस लिंग में सर्वथा वस्त्रों का त्याग है, नग्नावस्था है वह उत्सर्गलिंग कहा जाता है। तथा जो उसके विरुद्ध सवस्त्रलिंग है उसे अपवादलिंग कहते हैं। मुनिगण तो सदा उत्सर्ग में ही रहते हैं, वे यदि अपवादलिंग धारण कर लेवें तो मुनिपद का ही अपवाद हो जाता है। अर्थात् सवस्त्रावस्था में मुनिपद ही नहीं ठहरता है। परन्तु गृहस्थ, विशेष अवस्था में उत्सर्गलिंग भी धारण कर सकता है और ऊपर कही हुई अवस्था में वह सवस्त्र ही रह सकता है।

यहां पर भक्त प्रत्याख्यान समाधिमरण का प्रकरण है। मुनिगण तो सदैव उत्सर्गलिंग (वस्त्र–रहित नग्नरूप) में रहते ही हैं, इस लिये वे तो उत्सर्गलिंग वाले ही हैं। परन्तु जो गृहस्थ भक्त–प्रत्याख्यान–समाधिमरण धारण करता है तो उसके लिये यहां पर विचार है। उसी को ७६ वीं गाथा में भगवती आराधनाकार कहते हैं कि जो गृहस्थ अनेक मनुष्यों से भरे हुए अपने घर में ही रहता है और स्वयं वैभवशाली श्रीमान, लज्जावान भी है और जिसके बन्धु–बांधव मिथ्यादृष्टि

हैं तो ऐसा गृहस्थ उत्सर्गलिंग, अर्थात् वस्त्र-रहित अवस्था, नग्नता को धारण नहीं कर सकता। उसके लिये सवस्त्र रहनेकी ही शास्त्राज्ञा है।

यहां पर इस गाथा में गृहस्थ का ही विधान है यह बात गाथा के पदों से ही खुलासा हो जाती है। वैभवशाली मुनि नहीं होते, अनेक मनुष्यों से भरे हुए अपने निवास-स्थान पर मुनि नहीं रहते हैं। सदा नग्न रहने वाले मुनि लज्जावान भी नहीं होते हैं। तथा जब मुनि सब कुटुम्ब को छोड़कर जंगल में रहते हैं तब उनके कुटुम्बी मिथ्यादृष्टि हों और उनके बीच में वह समाधिमरण धारण करें यह बात भी सर्वथा विपरीत है। इस लिये यह सब कथन भक्त-प्रत्याख्यान धारण करने वाले गृहस्थ के लिये है।

दूसरी बात यह भी समझ लेनी चाहिये कि जब यहां पर भक्त-प्रत्याख्यान समाधिमरण का प्रकरण है तब समाधिमरण के समय जब गृहस्थ को भी वस्त्रादि का त्याग कराया जाता है, कुटुम्बादि से ममत्व छुड़ाया जाता है, जो एकांत स्थान में रहने वाला हो, धन कुटुम्ब से ममत्व नहीं रखता हो, लज्जावान नहीं हो, वैसे गृहस्थ के लिये भी भक्त-प्रत्याख्यान समाधिमरण के समय वस्त्र-त्याग का, नग्न रहने का, अर्थात् उस अवस्था विशेष में उत्सर्गलिंग (मुनिवत) धारण करने की शास्त्राज्ञा है और वैसा ही उपदेश उसे निकटस्थ धार्मिक विद्वान देते हैं। जब गृहस्थ से भी वस्त्रों का त्याग कराया

जाता है तब भक्त-प्रत्याख्यान समाधि के समय सदा उत्सर्ग-लिंग, नग्न रूप में रहने वाले मुनिराजों को वस्त्र धारण करने की आज्ञा हो सकती है क्या ? गृहस्थ तो वस्त्र छोड़े, जो सदा पहने रहता है और मुनिराज जो सदा नग्न रहते हैं वे समाधिमरण के त्यागमय समय में और ममत्वभाव सर्वथा छोड़ने के समय में उलटे वस्त्र धारण करें ?

इतना स्पष्ट अर्थ होने पर भी प्रो० सा० ने जो मुनि का वस्त्र धारण करना भी इस गाथा से प्रगट किया है सो इस गाथा के अर्थ से सर्वथा विपरीत है जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है।

७६ वीं गाथा में सन्यास समय में गृहस्थ का ही अपवाद लिंग अर्थात् सवस्त्र वेष धारण करने की आज्ञा है। मुनियों के लिये सर्वथा नहीं है, यह बात उसी गाथा के पदोंसे स्पष्ट हो जाती है। और वही बात ७७ वीं गाथा से भी स्पष्ट हो जाती है। पाठकों की जानकारी के लिये हम यहां पर ७७ वीं गाथा भी रख देते हैं—

उस्सग्गियलिंगकदस्स लिंगमुस्सग्गियं तयं चेव।
अववादियलिंगस्सवि पसत्थ मुवसग्गियं लिंग ॥

(भगवती आराधना गा० ७७)

अर्थात्—समस्त वस्त्रादि परिग्रह के त्याग को (नग्न रूप को) उत्सर्गलिंग कहते हैं। मुनिगण उत्सर्गलिंगधारी ही होते हैं, जिस समय वे मुनिगण भक्त-प्रत्याख्यान सन्यास

धारण करते हैं तब भी उत्सर्गलिंग ही रहता है। इस गाथा की संस्कृत टीका में इसी भाव को यों स्पष्ट किया गया है। यथा—

उत्सर्गः सकलपरिग्रहत्यागः तत्र भवमौत्सर्गिकं तच्च तल्लिंगं च तत्र कृतः स्थितः तस्थयतेर्भक्तं त्यक्तुमिच्छोस्तदेव प्राग्गृहीतमेव भवेत् ॥

अर्थात्—सकल परिग्रह त्याग रूप जो उत्सर्गलिंग मुनि के होता है। भक्त-प्रत्याख्यान सन्यास के समय में भी मुनि के वही उत्सर्ग लिंग रहता है।

परन्तु परिग्रह सहित लिंग को अपवादलिंग कहते हैं, अपवादलिंग श्रावक-श्राविकाओं के होता है। भक्त-प्रत्याख्यान सन्यास को यदि श्रावक-श्राविकाएं धारण करें तो दोष रहित अवस्था में वे भी उत्सर्गलिंग धारण कर सकती हैं। अर्थात् सन्यास के समय वे भी नग्न होकर उत्सर्ग लिंग धारण कर सकते हैं। यदि गृहस्थ नग्नता के लिये अयोग्य हो तो वह उत्सर्गलिंग धारण नहीं कर सकता है। किंतु अपवादलिंग सवस्त्रलिंग ही धारण करेगा।

प्रो० सा० जिस ७६ वी गाथा का प्रमाण देकर मुनि को सवस्त्र सिद्ध करना चाहते हैं वह सवस्त्रता मुनि के लिये नहीं किंतु गृहस्थ के लिये ही है। यह बात उसी गाथा से स्पष्ट हो चुकी है और भी स्पष्टता के लिये हम नीचे लिखी गाथा देते हैं—

इत्थीविय जं लिंगं दिट्ठं उस्सग्गियं व इदरं वा।
तं तह होदि हु लिंगं परित्त मुवधिं करेंतीए॥

(भगवती आराधना गाथा ८१)

इसका अर्थ वही है जो प्रो० सा० की प्रमाण में दी हुई ७९ वीं गाथा का है। अर्थात् जो आर्यिकाएं हैं वे तो एकांत स्थान में सन्यास मरण के समय मुनिवत् नग्न रहकर उत्सर्ग लिंग धारण कर सकती हैं। श्राविका भी सन्यास मरण के समय एकांत स्थान आदि अनुकूल सामग्री मिलने से उत्सर्गलिंग अर्थात् नग्नता धारण कर सकती है। परन्तु जो श्राविका सम्पत्तिशाली हो, लज्जा वाली हो तथा जिसके बांधव मिथ्यादृष्टि हों तो वह श्राविका अपवादलिंग ही रक्खेगी। अर्थात् सवस्त्र ही रहेगी। सम्पत्तिशाली, लज्जा वाली, अनेक मनुष्यों के समुदाय में घर में रहने वाली तथा मिथ्यादृष्टि बंधु-बांधव वाली श्राविका तथा ७९ वीं गाथा के अनुसार वैसा श्रावक गृहस्थ दोनों ही सन्यासमरण समय में भी उत्सर्गलिंग अर्थात् नग्न दिगम्बर मुनि लिंग नहीं धारण कर सकते हैं किन्तु सन्यासमरण भी वे सवस्त्र रहकर ही करें ऐसी शास्त्राज्ञा है। इन ऊपर की गाथाओं से यह बात बहुत स्पष्ट हो चुकी कि जो मुनि की सवस्त्रता सिद्ध करने के लिये प्रो० सा० ने भगवती आराधना के ७९ वीं गाथा का प्रमाण दिया है वह मिथ्या है। आगे उन्होंने ८३ वीं गाथा को भी मुनि की सवस्त्रता सिद्ध करने के लिये दिया है, वह भी उस गाथाके

अर्थ से सर्वथा विपरीत है। यथा—

गंथच्चाओ लाघवमप्पडिलिहणं च गदभयत्तं च।
सं सज्जणपरिहारो परिकम्म विवज्जणा चेव ॥
(भगवती आराधना ८३ गाथा)

इस गाथा का अर्थ यह है कि परिग्रह का त्याग करने से मुनीश्वरों में लघुता आती है, अर्थात् जैसे परिग्रह वाले मनुष्य की छाती पर एक पर्वत के समान बोझ सा बैठा रहता है वैसा वस्त्रादि रहित नग्न साधु के कोई बोझ नहीं रहता है। जिस प्रकार सवस्त्र वाले को वस्त्रों का सोचना उन्हें स्वच्छ रखना आदि चिन्ता है, करनी पड़ती वैसी चिन्ता दिगम्बर मुनियों को नहीं करनी पड़ती, कारण उनके मयूरपिच्छिका मात्र रहती है। जिस प्रकार वस्त्रधारी को सदैव भय रहता है, उन की सम्हाल रक्षा करनी पड़ती है, वैसा भय नग्न साधु के नहीं होता है। सवस्त्र को जूएं लीक आदि जीवों का परिहार और वस्त्रों को धोना आदि आरम्भ करना पड़ता है, परन्तु निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि को ये सब आरम्भ नहीं करने पड़ते हैं। तथा वस्त्र धारण करने वालों को, उनके फट जाने पर या खो जाने पर दूसरे वस्त्रों की याचना करनी पड़ती है। उन्हें सीना, सुखाना, धोना आदि क्रियाओं में समय लगाना पड़ता है, साथ ही आरम्भादि–जनित प्रमाद व हिंसा का पात्र बनना पड़ता है, सामायिक आदि के धर्मसाधन में विघ्न, बाधा एवं आकुलता हो जाती है, उस प्रकार की कोई बाधा दिगम्बर नग्न

मुनि के नहीं हो सकती।

इस गाथा की टीकामें श्वेताम्बर साधुओं का खण्डन किया गया है अर्थात् श्वेताम्बर साधु वस्त्र धारण करते हैं इस लिये उनको वस्त्र धारण करने से आने वाले सभी दोष लगते हैं, परन्तु दिगम्बर नग्न साधुओं के एक भी दोष नहीं लगता है। क्योंकि उनके पास कोई परिग्रह नहीं रहता है।

जिस प्रकार स्वामी कुन्दकुंदाचार्य की गाथा की टीका में आचार्य श्रुत सागर ने श्वेताम्बर मत का खण्डन किया है, इसी प्रकार यहां पर भी श्वेताम्बर-मान्यता का अथवा सवस्त्र-संयम की मान्यता का सहेतुक खण्डन किया गया है। परन्तु खेद है कि प्रो० सा० ने उसी ८३ वीं गाथा का प्रमाण सवस्त्र-संयम सिद्ध करने के लिये देकर ग्रन्थ का सर्वथा विपरीत अर्थ किया है।

भगवती आराधनामें सर्वत्र यही बात स्पष्ट की गई है कि वस्त्र त्याग ही मुक्ति प्राप्ति का उपाय है, उसके बिना संयम की प्राप्ति असम्भव है। मुक्ति के लिये तीर्थंकरों ने वस्त्रत्याग किया था, वही उपाय मोक्ष के चाहने वाले सभी साधुओं को करना आवश्यक है। ज्ञानाचार, दर्शनाचार धारण करना जैसे परमावश्यक है। वैसे वस्त्रत्याग भी मुक्ति के लिये परमावश्यक है इत्यादि कथन आगे की ८५ से लेकर अनेक गाथाओं में किया है। पाठकगण भगवती आराधना के उस प्रकरण को देख लेवें। यहां पर अब इससे अधिक लिखना अनाव-

श्यक है। लेख बढ़ने का भय भी है।

दूसरा प्रमाण सवस्त्र संयम और सवस्त्र मुक्ति प्राप्ति के सिद्ध करने के लिये प्रो० सा० ने तत्वार्थसूत्र, सर्वार्थसिद्धि व राजवार्तिक ग्रन्थों के दिये हैं। वे लिखते हैं कि—

"तत्वार्थसूत्र में पांच प्रकार के निर्ग्रन्थों का निर्देश किया गया है जिनका विशेष स्वरूप सर्वार्थसिद्धि व राजवार्तिक टीका में समझाया गया है। (देखो अध्याय ६ सूत्र ४६-४७) इसके अनुसार कहीं भी वस्त्रत्याग अनिवार्य नहीं पाया जाता, बल्कि वकुश निर्ग्रन्थ तो शरीर-संस्कार के विशेष अनुवर्ती कहे गये हैं।"

प्रो० सा० की ऊपर की पंक्तियों को पाठक ध्यान से पढ़ लेवें। उन्होंने तत्वार्थ के उक्त सूत्रों का प्रमाण देकर यह बताया है कि इन सूत्रोंमें मुनिके वस्त्र-त्याग अनिवार्य (जरूरी) नहीं पाया जाता है। वे सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक टीका का भी प्रमाण इसी रूप में प्रगट करते हैं।

परन्तु उनका यह सब लिखना सर्वथा विपरीत है। मूल सूत्र—तत्वार्थसूत्र और उसकी टीका, सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक तथा श्लोकवार्तिक तीनों टीकाओंसे यह बात स्पष्ट सिद्ध है कि मुनि के लिये वस्त्रों का त्याग परमावश्यक है; बिना वस्त्र-त्याग के उसे मुनिपद में ग्रहण नहीं किया जा सकता है। इसी बात को हम नीचे तीनों ग्रन्थों से स्पष्ट करते हैं—

पहले तो मूल सूत्र को ही ले लीजिये—

पुलाकबकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातका निर्ग्रन्थाः।

(तत्वार्थसूत्र ४६)

इसका यह अर्थ स्पष्ट है कि मुनि पांच प्रकार के होते हैं। उनके ये पांच भेद हैं—पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ, स्नातक। ये पांच प्रकार के मुनि निर्ग्रन्थ ही होते हैं अर्थात् इन पांचों के अन्य गुणों में तथा कषाय के तरतम भेदों में तो भेद रहता है, परन्तु नग्नत्व की दृष्टि से कोई भेद उनमें नहीं है। पांचों ही प्रकार के मुनि निर्ग्रन्थलिंग-धारी नग्न दिगम्बर होते हैं।

यह इस सूत्र का अर्थ है। अब सर्वार्थसिद्धि को देखिये—

"त एते पञ्चापि निर्ग्रन्थाः। चारित्र-परिणामस्य प्रकर्षाप्रकर्षभेदे सत्यपि नैगमसंग्रहादिनयापेक्षया सर्वेपि ते निर्ग्रन्थाः इत्युच्यन्ते।"

(सर्वार्थ सिद्धि पृष्ठ २११)

इन पंक्तियों का यह अर्थ है कि पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ स्नातक ये पांचों प्रकार के मुनि सभी निर्ग्रन्थ अर्थात् वस्त्र-रहित नग्न दिगम्बर होते हैं। यद्यपि पांचों प्रकार के मुनिराजों में चारित्र की अपेक्षा विशुद्धि में तरतम भेद है। अर्थात् उन मुनियों की विशुद्धि में परस्पर हीनाधिकता पाई जाती है फिर भी नैगम संग्रह आदि नयों की अपेक्षा से वे पांचों ही निर्ग्रन्थ (नग्न) हैं।

सर्वार्थसिद्धि की इस ४६ वें सूत्र की टीका की ऊपर की पंक्तियों से यह बात खुलासा हो जाती है कि सभी मुनि नग्न ही होते हैं। गुणों में मुनियों में भेद है परन्तु नग्न सभी हैं। 'कोई सवस्त्र हो, कोई वस्त्र रहित हो' ऐसी बात किसी भी ग्रन्थ में नहीं है।

प्रो० सा० का यह लिखना कि 'वस्त्र-त्याग अनिवार्य नहीं पाया जाता'—मिथ्या है। सर्वार्थसिद्धि की इन पंक्तियों से वस्त्र-त्याग मुनिमात्र के लिये अनिवार्य एवं परमावश्यक है। बिना वस्त्र-त्याग किये पुलाक आदि पांचों मुनियों के भेदों में किसी का ग्रहण नहीं हो सकता है और पांच भेदों के सिवा और छठा कोई मुनियों में भेद है नहीं। इन्हीं में सब मुनियों का ग्रहण हो जाता है।

अब राजवार्तिक को देखिये—

प्रकृष्टाप्रकृष्टमध्यानां निर्ग्रन्थाभावश्चारित्रभेदात् गृहस्थवत् ६—यथा गृहस्थश्चारित्रभेदान्निर्ग्रन्थव्यपदेशभाग् न भवति तथा पुलकादीनामपि प्रकृष्टमध्यमचारित्रभेदान्निर्ग्रन्थत्वं नोपपद्यते ?। न वा दृष्टत्वात् ब्राह्मणशब्दवत् ७—न वैष दोषः कुतो ब्राह्मण-शब्दवत् यथा जात्या चारित्राध्ययनादिभेदेन भिन्नेषु ब्राह्मणशब्दो वर्तते तथा निर्ग्रन्थशब्दोपि, किंच। दृष्टिरूपसामान्यात् ८—सम्यग्दर्शनं निर्ग्रन्थ-रूपश्च भूषावेशायुधविरहितं तत्सामान्ययोगात् सर्वेषु हि पुलाकादिषु निर्ग्रन्थशब्दो युक्तः।"

(तत्वार्थ राजवार्तिक सूत्र ४६ पृष्ठ ३४८)

इन पंक्तियों में पुलाकादि पांचों मुनियों के विषय में शंका उठा कर समाधान किया गया है वह इस प्रकार है—

जिस प्रकार गृहस्थों में भिन्न भिन्न प्रकार का चारित्र भेद होने से वे निर्ग्रन्थ नहीं कहे जाते हैं, उसी प्रकार पुलाक आदि पांचों प्रकार के मुनियों में भी उत्तम, मध्यम चारित्रभेद है, इस लिये वे भी सब निर्ग्रन्थ नहीं होने चाहिये ?

इस शंका के उत्तर में आचार्य कहते हैं कि यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि जिस प्रकार चारित्र, अध्ययन (पठन-पाठन) आदि बातों से समस्त ब्राह्मणों में परस्पर भेद भी है फिर भी वे सभी ब्राह्मण ही कहे जाते हैं। उसी प्रकार पांचों मुनियों में परस्पर चारित्रभेद रहने पर भी सभी मुनि निर्ग्रन्थ (नग्न) ही होते हैं।

इसी बात को आचार्य स्पष्ट करते हुए और भी कहते हैं कि सम्यग्दर्शन सबों में पाया जाता है और वस्त्र, आभरण, आयुध आदि परिग्रह रहित निर्ग्रन्थ लिंग नग्नरूप समस्त मुनियों में समान रूप से पाया जाता है। अर्थात् पांचों ही पुलाकादि मुनि सम्यग्दृष्टि हैं और सभी नग्नरूपधारी हैं।

तत्वार्थ राजवार्तिक की इन पंक्तियों में यह बात खुलासा कर दी गई है कि दिगम्बर जैन सिद्धान्तानुसार मुनि मात्र के लिये वस्त्र-त्याग अनिवार्य एवं प्रमुख मूल गुण है। उसके बिना मुनि ही नहीं कहा जा सकता। प्रो० सा० का यह कहना कि 'वस्त्र-त्याग मुनियोंके लिये अनिवार्य नहीं है' सर्वथा

४६ वें सूत्र और राजवार्तिक, सर्वार्थसिद्धि आदि टीकाओं से विपरीत है।

अब तीसरा प्रमाण तत्वार्थ-सूत्र के ४६ वें सूत्र का अर्थ श्लोकवार्तिक द्वारा भी हम स्पष्ट करते हैं—

पुलाकाद्या मता पंच निर्ग्रन्था व्यवहारतः।
निश्चयाच्चापि नैर्ग्रन्थ्य-सामान्यस्याविरोधतः॥
वस्त्रादिग्रन्थसम्पन्ना स्ततोन्ये नेति गम्यते।
बाह्यग्रन्थस्य सद्भावे ह्यन्तर्ग्रन्थो न नश्यति॥
ये वस्त्रादि-ग्रहेप्याहु निर्ग्रन्थत्वं यथोदितम्।
मूर्च्छानुद्भूतितस्तेषां स्त्र्याद्यादानेपि किं न तत्॥
विषयग्रहणं कार्यं मूर्च्छा स्यात्तस्य कारणम्।
न च कारणविध्वंसे जातु कार्यस्य संभवः॥

(श्लोकवार्तिक सूत्र ४६ पृष्ठ ५०७)

श्रीमत् परवादिभयंकर आचाय विद्यानन्दि स्वामी ने मुनि के वस्त्र-त्याग का विधान अत्यावश्यक एवं अनिवार्य बताते हुए ऊपर की कारिकाएं लिखी हैं। इन कारिकाओं का अर्थ यह है—

व्यवहारनय से पांचों प्रकार के पुलाक आदि मुनि निर्ग्रन्थ-नग्न माने गये हैं। निश्चयनय से भी सामान्य रूप से पांचों में निर्ग्रन्थपना है इसमें कोई सन्देह नहीं है। जो वस्त्र आदि परिग्रहयुक्त हैं वे किसी प्रकार के मुनि नहीं हो सकते हैं। अर्थात् मुनिपद बिना-नग्नता के नहीं हो सकता

है। बाह्य परिग्रह के रहते हुए अन्तरंग परिग्रह कभी नष्ट नहीं हो सकता है। अर्थात पहले बाह्य परिग्रह दूरकर निर्ग्रन्थ-अवस्था धारण की जायगी तभी अन्तरंग परिग्रह कषायभाव नष्ट हो सकते हैं। जो लोग यह कहते हैं कि वस्त्रादिके धारण करने पर भी मूर्च्छा के नहीं उत्पन्न होने से निर्ग्रन्थभाव ही माना जाना चाहिये। अर्थात कोई लोग यदि यह कहें कि मुनि वस्त्र भी धारणकर लें तो भी उनके ममत्वभाव नहीं होता है इस लिये उन वस्त्रधारी मुनि को भी निर्ग्रन्थ ही कहना चाहिये ? ऐसी कोई शंका करे तो उसके उत्तर में आचार्य कहते हैं कि यदि वस्त्र धारण करने पर भी ममत्वभाव (मूर्च्छा) नहीं माना जाता तो फिर स्त्री आदि के ग्रहण करने पर भी ममत्वभाव मत मानो। अर्थात् यदि स्त्री आदि के ग्रहण में प्रमाद एवं मूर्च्छा है तो इच्छा पूर्वक वस्त्र पहनने पर भी प्रमाद और मूर्च्छा क्यों नहीं मानी जायगी ? क्योंकि स्त्री और वस्त्र दोनों ही परिग्रह हैं। और यह नियम है कि वस्त्र आदि किसी भी परिग्रह का ग्रहण बिना मूर्च्छाभाव (ममत्वभाव) के कभी नहीं हो सकता है। जिसके ममत्व लगा हुआ है, शरीर से और वस्त्रों से ममत्व है वही वस्त्र धारण करेगा और जिसने शरीर और उसकी रक्षा के साधन वस्त्रों से थोड़ा भी ममत्वभाव नहीं रखा है वह उन वस्त्रों को क्यों ग्रहण करेगा ? अर्थात् निर्मोही मुनि वस्त्रों को सर्वथा छोड़ देते हैं। कारण का नाश होने पर कार्यका भी नाश हो जाता

है। ममत्वभाव ही वस्त्र आदि परिग्रह का कारण है जिसके ममत्वभाव नहीं रहता वह वस्त्रादि सभी परिग्रह का त्याग कर देता है। इस लिये वस्त्र सहित अवस्था में निर्ग्रन्थ रूप मुनिपद कभी सिद्ध नहीं हो सकता है। अतः पांचों प्रकार के मुनि वस्त्रादि परिग्रह के पूर्ण त्यागी होते हैं।

श्लोकवार्तिककार स्वामी विद्यानन्दि ने वस्त्रत्याग के लिये ऊपर कितना जोरदार कथन किया है यह बात ऊपर के कथन से पाठकगण अच्छी तरह समझ लेंगे।

पात्रकेसरी स्तोत्र में लिखा है—

दिगम्बर धर्ममें वस्त्र-त्याग अथवा नग्नता का ही विधान है। इस बात को आचार्य विद्यानन्दि ने कितना स्पष्ट कहा है—

जिनेश्वर न ते मतं पटकवस्त्रपात्रग्रहो,
विमृश्य सुखकारणं स्वयमशक्तकैः कल्पितः।
अथायमपि सत्पथस्तव भवेद्वृथा नग्नता,
न हस्तसुलभे फले सति तरुः समारुह्यते॥
(पात्रकेसरी स्तोत्र ४१)

अर्थात्—वस्त्रों का धारण करना और भिक्षा के लिये पात्र का ग्रहण करना आदि बातें; हे जिनेन्द्र भगवन्! आप के मत में मान्य नहीं हैं। ये बातें तो दूसरे असमर्थ मत वालों ने सुख का कारण समझ कर मान ली हैं। यदि वस्त्र धारण करना आदि आपके मत (दिगम्बर मत) में श्रेष्ठ मार्ग,

मोक्षमार्ग माना जाय तो फिर नग्नताका जो मोक्षमार्ग विधायक सिद्धान्त है वह व्यर्थ ठहरेगा ? क्योंकि जब हाथ से ही फल तोड़ लिया जाय तो फिर वृक्षपर चढ़ने की किसको आवश्यकता होगी ? इसी प्रकार जब वस्त्र धारण किये हुए भी मोक्ष मिल जाय तो फिर त्याग करने की क्या आवश्यकता रहेगी ? इस कथन से स्पष्ट है कि बिना वस्त्र-त्याग किये अथवा नग्नता धारण किये बिना मोक्ष-प्राप्ति असम्भव है, यही दिगम्बर मत का सिद्धान्त है।

इसके आगे प्रो० सा० ने लिखा है—

"बकुश निर्ग्रन्थ तो शरीर संस्कार के विशेष अनुवर्ती कहे गये हैं, यद्यपि प्रतिसेवना कुशील के मूल गुणों की विराधना न होने का उल्लेख किया गया है। तथापि द्रव्यलिंग से पांचों ही निर्ग्रन्थों में विकल्प स्वीकार किया गया है।"

प्रो० सा० की इन पंक्तियों से मुनि सवस्त्र भी रह सकते हैं—यह बात कौन से शब्द या पद से सिद्ध होती है सो पाठकगण ही समझ लेवें। फिर पांचों ही निर्ग्रन्थों में विकल्प कहां से सिद्ध होता है ? अर्थात् कहीं से भी नहीं होता। जबकि हम इन्हीं सूत्रों और सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक आदि ग्रन्थों से पांचों प्रकार के मुनियों के वस्त्र-त्याग अनिवार्य और परमावश्यक सिद्ध कर चुके हैं तब 'सवस्त्र भी मुनि रह सकते हैं' इस विकल्प को कहीं भी स्थाननहीं है।

रही बकुश मुनि के शरीर-संस्कार की बात; सो यह

आत्मीय भावों के रागांश का परिणाम है। कर्मसिद्धान्त के अनुसार और तदनुकूल गुणस्थान रूप रचना के अनुसार छठे गुणस्थान में संज्वलन कषाय का तीव्रोदय रहता है। उसके कारण मुनिराजों के रागभाव का होना सहज है। इसी लिये छठे गुणस्थान को 'प्रमत्त' कहा गया है। वहां पर कषायोदय से प्रमाद रहता है। अत एव वकुश जाति के मुनि शरीर को स्वच्छ रखना चाहते हैं, यदि शरीर में धूल मिट्टी लग जाय तो वे उसे दूर कर देते हैं। उनकी ऐसी भी इच्छा रहती है कि कमण्डलु और पीछी भी उनकी नई हो, इस प्रकार का अनुराग उनके अभी कर्मोदय-वश बना हुआ है। परन्तु इस अनुराग के कारण 'वे वस्त्र भी धारण कर लेते हैं।' यह बात प्रो० सा० ने नहीं मालूम कैसे कह डाली? वकुश मुनियों का लक्षण सर्वार्थ-सिद्धि, राजवार्तिक, श्लोक-वार्तिक तीनों ग्रन्थों में लिखा हुआ है, कम से कम उन्हें एक बार इन ग्रन्थों में उन वकुश मुनियों के लक्षण को तो पहले देख लेना आवश्यक था, तभी उन मुनियों के वे वस्त्रविधानकी बात लिखते।

पाठकों की जानकारी के लिये यहां पर हम उन वकुश मुनियों का लक्षण प्रगट कर देते हैं—

नैर्ग्रन्थ्यं प्रतिस्थिताः अखण्डितव्रताः शरीरोपकरण-विभूषानुवर्तिनोऽविविक्तपरिच्छेदाः मोहशवलयुक्ताः वकुशाः।

(सर्वार्थसिद्धि सूत्र ४६ पृष्ठ ३११)

अर्थात्—जो पूर्ण निर्ग्रंथ (नग्न) हों, जिनके व्रत खण्डित नहीं हों, अर्थात् जिनके अट्ठाईस मूल गुणों में से किसी व्रत की विराधना नहीं हो, किन्तु शरीर और उपकरणों के सुन्दर रखने के अभिलाषी हों तथा परिवार से भी जिनका ममत्व पूर्ण रूप से दूर नहीं हुआ हो, इस प्रकार की लहरों से जो युक्त हों वे बकुश मुनि कहलाते हैं। यहां पर सबसे पहले "नैर्ग्रन्थ्यं प्रतिस्थिताः" यह पद दिया गया है, इसका अर्थ यही है कि वे बकुश मुनि नग्न ही रहते हैं। जब उनके लक्षण में नग्नता का ही विधान है तब शरीर-संस्कार के अनुवर्ती कहने से उन्हें प्रो० सा० का 'वस्त्र सहित' समझना सूत्राशय से सर्वथा विपरीत है।

जो लक्षण ऊपर सर्वार्थसिद्धि में बकुश मुनियों का कहा गया है वही लक्षण राजवार्तिक में कहा गया है। इस लिये उसे भी यहां लिखा जाय तो लेख बढ़ेगा। अतः पाठक वहां स्वयं देख सकते हैं।

आगे प्रो० सा० लिखते हैं—

"भावलिंगं प्रतीत्य पंच निर्ग्रन्थ-लिंगिनो भवन्ति द्रव्य-लिंगं प्रतीत्य भाज्याः।

(तत्वार्थसूत्र अ० ९ सूत्र ४७ सर्वार्थसिद्धि)

इसका टीकाकारों ने यही अर्थ किया है कि कभी २ मुनि वस्त्र भी धारण कर सकते हैं,,।

ऊपर सर्वार्थ सिद्धि के दो वाक्य रखकर प्रो० सा० का

यह कहना कि "टीकाकारों ने इनका अर्थ यही किया है कि मुनि कभी कभी वस्त्र भी धारण कर सकते हैं" सर्वथा मिथ्या है। सर्वार्थ सिद्धि, राजवार्तिक और श्लोकवार्तिक ग्रन्थ की टीका पाठक देख लेवें।

उक्त दोनों वाक्यों का क्या अर्थ है इस बात को हम यहां पर स्पष्ट करते हैं—

पुलाक आदि पांचों प्रकार के मुनि भावलिंग की अपेक्षा तो पांचों निर्ग्रन्थ-मुनि हैं। अर्थात् सम्यग्दर्शन और केवल संज्वलन कषाय के उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम-जनित संयम की दृष्टि से पांचों मुनि भावलिंगी हैं। क्योंकि पांचों के सम्यग्दर्शन और संयम रहता है। परन्तु द्रव्यलिंग की अपेक्षा भेद हो जाता है, वह दो प्रकार से होता है, एक शरीर रचना की दृष्टि से, दूसरा कर्मोदय की दृष्टि से। शरीर रचना की दृष्टि से तो मुनिपद केवल द्रव्य पुरुषवेद से ही होता है। दूसरे स्त्री आदि द्रव्यलिंग से मुनिपद की पात्रता नहीं आती है।

कर्मोदय की दृष्टि से यह भेद हो जाता है कि कोई पुरुष मुनिपद तो धारण कर लेवे और बाह्य क्रियायें भी सब मुनिपद के समान करता रहे किंतु मिथ्यात्व कर्म के उदय से वह भावों की अपेक्षा मिथ्या दृष्टि हो तो वह द्रव्यलिंगी मुनि कहा जायगा, भावलिंगी नहीं कहा जायगा। क्योंकि उसके सम्यग्दर्शन व संयम नहीं है। ऐसा द्रव्यलिंगी मुनि पुलाक

आदि पांचों भेदों में गर्भित नहीं हो सकता। क्योंकि पुलाक आदि पांचों प्रकार के मुनि तो सम्यग्दर्शन सहित और संयमी होने वाले भावलिंगी मुनि हैं।

दूसरा द्रव्यलिंगी मुनि वह भी होता है जो मुनिपदमें रहता है, उसके सम्यग्दर्शन भी होता है परन्तु प्रत्याख्याना-वरण कषाय का उदय रहने से उसके संयम भाव नहीं होता है, ऐसा भी मुनि कहा जाता है। क्योंकि भावलिंगी मुनि के तो केवल संज्वलन कषाय का ही उदय रहता है, अतएव वह संयमी होता है। बस यही "द्रव्यलिंगं प्रतीत्य भाज्याः" का खुलासा अर्थ है। यहां पर यह बात भी खुलासा हो जाती है कि द्रव्यलिंगी मुनि भी भले ही मिथ्यात्व कर्म के उदय से अंत-रंग में मिथ्यादृष्टि हो, परन्तु वह भी नग्न दिगम्बर ही होता है। द्रव्यलिंगी मुनि भी कभी वस्त्र धारण नहीं कर सकता है। यदि वस्त्र धारण कर लेवे तो उसे द्रव्यलिंगी भी मुनि नहीं कह सकते हैं। क्योंकि वस्त्र-त्याग किये बिना तो मुनि-लिंग ही नहीं कहा जाता है।' इस लिये दिगम्बर जैन सिद्धा-न्तानुसार मुनि पद में वस्त्र-त्याग अनिवार्य है।

आगे प्रोफेसर सा० ने लिखा है कि—

"मुक्ति भी सग्रन्थ और निर्ग्रन्थ दोनों लिंगों से कही गई है—

निर्ग्रन्थलिंगेन सग्रन्थलिंगेन वा सिद्धिर्भूतपूर्वनया-पेक्षया। (तत्वार्थसूत्र अ० १० सर्वार्थसिद्धि)

यहां भूतपूर्व का अभिप्राय सिद्ध होने से अनन्तर-पूर्व का है।"

प्रो० सा० ऊपर की पंक्ति लिखकर संग्रन्थलिंग (वस्त्र सहित होने) से भी मुक्ति का होना बताते हैं और सर्वार्थसिद्धि के १० वें अध्याय की पंक्ति को प्रमाण में प्रगट करते हैं। परन्तु उनका सवस्त्रलिंग से मोक्ष की सिद्धि मानना भी सर्वथा मिथ्या है। मालूम होता है कि तत्वार्थसूत्र एवं सर्वार्थसिद्धि की पंक्तियों पर आपने यथेष्ठ ध्यान नहीं दिया है। अस्तु

जिन पंक्तियों से वे वस्त्र सहित अवस्था में मोक्ष बताते हैं उनका खुलासा अर्थ हम नीचे लिखते हैं—

१० वें अध्याय के ६ वें सूत्र में आचार्य उमास्वामी ने यह बतलाया है कि सिद्ध पद अथवा मोक्ष प्राप्ति में साक्षात् तो कोई भेद नहीं है, सभी सिद्ध अनन्त गुणधारी, अमूर्त एवं पूर्ण विशुद्ध हैं, सभी समान हैं, सबोंके अष्ट कर्म और शरीर नष्ट हो चुका है। इस लिये क्षायिक सम्यक्त्व, केवलज्ञान, यथाख्यात चारित्र, क्षायिकदर्शन, अगुरुलघु, अव्याबाध, सूक्ष्म अवगाहन आदि अनन्त विशुद्ध गुण सबों में बराबर हैं, उन में कोई भेद वर्तमान नय की अपेक्षा से नहीं है।

परन्तु भूतपूर्व नयकी अपेक्षा से उनमें परस्पर भेद है जैसे कोई सिद्ध जम्बू द्वीप से मोक्ष गये हैं, कोई धातकी खण्ड से गये हैं। ज्ञान की अपेक्षा कोई दो ज्ञानों से मोक्ष गये हैं, कोई तीन वा चार ज्ञानों से मोक्ष गये हैं, अर्थात् किसी को

मति श्रुत दो ज्ञानों के बाद ही केवलज्ञान होकर सिद्ध पद हो जाता है किसी को अवधि अथवा अवधि मनपर्यय होकर फिर केवलज्ञान से सिद्धपद होता है। साक्षात् तो केवलज्ञान से ही सिद्ध पद होता है। परन्तु भूतपूर्व नय से मतिज्ञानादि से भी परम्परा सिद्धपद होता है। इसी प्रकार साक्षात् तो निर्ग्रन्थ-लिंग (भावलिंग और नग्न दिगम्बर लिंग) से ही मोक्ष होती है। परन्तु भूतपूर्व नय की दृष्टि से सवस्त्रलिंग से भी मोक्ष होती है। इसका अर्थ यही है कि निर्ग्रन्थलिंग धारण करनेके पहले गृहस्थ सवस्त्र रहता है। परन्तु वर्तमान मोक्षप्राप्ति निर्ग्रंथ लिंग से ही होती है। यदि वर्तमान में—साक्षात् भी सवस्त्र-लिंग से मोक्ष मानी जाय तो बिना केवलज्ञान प्राप्त किये मति-ज्ञान, श्रुतज्ञान से भी मोक्ष माननी पड़ेगी ?

इसी विषय को राजवार्तिककार श्रीमद्भट्टाकलंकदेव ने स्पष्ट किया है। यथा—

वर्तमानविषयविवक्षायां अवेदत्वेन सिद्धिर्भवति अतीत-गोचरनयापेक्षया अविशेषेण त्रिभ्यो वेदेभ्यः सिद्धिर्भवति, भावं प्रति, न तु द्रव्यं प्रति। द्रव्यापेक्षया तु पुल्लिंगेनैव सिद्धिः। अपरः प्रकारः—लिंगं द्विविधं निर्ग्रन्थलिंगं सग्रन्थलिंगं चेति तत्र प्रत्युत्पन्नः नयाश्रयेण निर्ग्रन्थलिंगेन सिध्यति, भूतविषय-नयादेशेन तु भजनीयम्।"

(राजवार्तिक पृष्ठ ३३६)

वर्तमान नय की अपेक्षा से तो अवेद से सिद्ध पद

होता है और भूत नय की अपेक्षा से सामान्य रूप से तीनों वेदों का ग्रहण भाववेद का है, द्रव्यवेद से तीनों वेद मोक्ष के हेतु नहीं हैं। द्रव्यवेद तो मुक्ति के लिये केवल पुंवेद है।

लिंग दो प्रकार है—निर्ग्रन्थलिंग और सग्रन्थलिंग। वर्तमान नय की दृष्टि से तो निर्ग्रन्थलिंग से ही मोक्ष होती है भूतपूर्व नय की दृष्टि से भजनीय है। यहां पर यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि यदि सवस्त्र अवस्था से भी मोक्ष प्राप्ति होती तो वर्तमान नय की अपेक्षा (साक्षात्) से भी सग्रन्थ-लिंग से भी मोक्ष का विधान किया जाता परन्तु सर्वत्र साक्षात् मोक्ष प्राप्ति तो निर्ग्रन्थलिंग से ही बताई गई है। और भूतपूर्व नय की अपेक्षा से तो चारों गतियों से मोक्ष-प्राप्ति बताई गई है। यथा—

"तत्रानन्तर-गतौ मनुष्यगतौ सिध्यति, एकान्तरगतौ चतसृषु गतिषु जातः सिध्यति।"

(रा० वा० ३६६)

अर्थात्—अनन्तर गति की अपेक्षा से तो मनुष्य गति से मोक्ष होती है और एकान्तर गति की अपेक्षा से चारों गतियों में उत्पन्न जीव मोक्ष जा सकता है। जैसे सवस्त्र मोक्ष प्राप्ति श्वे० सा० बताते हैं वैसे उन्हें तिर्यञ्च, नरक और देवगति से भी साक्षात् मोक्ष प्राप्ति बतानी पड़ेगी। परन्तु यह सब कथन भूतपूर्व नय की अपेक्षा से हैं उसे नहीं समझकर ही श्वे० सा० ने सग्रन्थ लिंग से मोक्ष प्राप्ति बता दी है। परन्तु

उनका यह कहना और समझना सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक आदि सभी ग्रन्थों के सर्वथा विपरीत है।

आगे प्रो० सा० ने सवस्त्र मोक्ष-सिद्धि के लिये धवल सिद्धान्त ग्रन्थ का प्रमाण दिया है। वे लिखते हैं—

"धवलाकार ने प्रमत्त संयतों का स्वरूप बतलाते हुए जो संयम की परिभाषा दी है उसमें केवल पांच व्रतों के पालन का ही उल्लेख है—"संयमो नाम हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिः।"

पाठकगण ऊपर की पंक्तियों को पढ़ लेवें, प्रो० सा० ने धवल सिद्धान्त ग्रन्थ का कितना जबर्दस्त प्रमाण सवस्त्र मोक्ष प्राप्ति के लिये दिया है? साधारण जनता तो समझेगी कि धवल सिद्धांतकार भी सवस्त्र मोक्ष बताते होंगे परन्तु वास्तव में बात इसके सर्वथा विपरीत है। ऊपर जो धवल की पंक्ति है उससे इतना ही सिद्ध होता है कि हिंसादि पांच पापों का त्याग करना संयम कहलाता है। इससे वस्त्र सहित भी मोक्ष होती है यह बात उन्होंने कौन से पद या बीजाक्षर से जान ली? यदि वे यह समझते हों कि पांचों पापों का त्याग करने से ही मुनि के संयम हो जाता है, उसमें वस्त्र-त्याग का अथवा नग्न रहने का कोई विधान नहीं है तो इस प्रकार की समझ के उत्तर में हम यह पूछते हैं कि जब पांच पापों को छोड़ना मात्र ही संयम है तब वह संयम मुनि का होगा या गृहस्थ का। क्योंकि पांच पापों का त्याग एक देश गृहस्थ भी

करता है और सर्वदेश मुनि करता है। इस पंक्ति में सर्व-देश, एकदेश की कोई बात नहीं है। दूसरे मुनि केशलोंच करता है, भूमि-शयन करता है, एक बार खड़े होकर अन्तराय टाल कर नवधाभक्ति पूर्वक आहार लेता है, चौमासे में जगह जगह विहार नहीं करता है इत्यादि बातें भी मुनि के संयम में गर्भित हैं या नहीं? यदि हैं तो वे किस आधार से या किस प्रमाण से मानी जांयगी? जब कि संयम का स्वरूप केवल पांच पापों का त्याग मात्र है, इसका समाधान प्रो० सा० क्या करेंगे? फिर मुनि का अट्ठाईस मूल गुण धारण करना परमावश्यक एवं अनिवार्य लक्षण है सो कैसे बनेगा? अट्ठाईस मूल गुणों में अचेलकत्व (नग्नत्व) गुण प्रधान माना गया है उसके लिये एक नहीं सभी शास्त्र जो मुनि स्वरूप-निरूपक हैं। इन सब बातों पर ध्यान नहीं देकर केवल धवला की एक पंक्ति पकड़कर अपने मन्तव्य की सिद्धि की जाती है और धवल-सिद्धान्त ग्रन्थ का प्रमाण बताया जाता है यह बहुत बड़ा आश्चर्य है।

प्रो० सा० को जानना चाहिये कि धवला के जिस १७६ पृष्ठ पर संयम का उल्लेख है उसी के आगे १७७ वें पृष्ठ में यह पंक्ति है—

"द्रव्य-संयमस्य नात्रोपादानमिति कुतोऽवगम्यते इति चेत्सम्यग्ज्ञात्वा श्रद्धाय यतः संयम इति व्युत्पत्तितस्तदवगतेः।"

(धवलसिद्धांत पृष्ठ १७७)

इन पंक्तियों का अर्थ भी जो उसी धवला में छपा हुआ है वह ही अर्थ यहां रख देते हैं—

"यहां पर द्रव्य संयम का ग्रहण नहीं किया गया है। यह कैसे जाना जाय ?

समाधान—क्योंकि भले प्रकार जानकर और श्रद्धानकर जो यम सहित है उसे संयत कहते हैं, संयत शब्द की इस प्रकार व्युत्पत्ति करने से यह जाना जाता है कि यहां पर द्रव्य संयम का ग्रहण नहीं किया गया है।"

इन पंक्तियों से जो कि धवला में ही छपी हुई हैं स्पष्ट सिद्ध है कि जो पांचों पापों का त्याग रूप संयम है, वह भाव- है, द्रव्यसंयम दूसरा ही है। प्रो० सा० को इस कथन से वह समझ लेना चाहिये कि मुनि का वस्त्र-त्याग, नग्न रहना, पिच्छिका रखनी; कमण्डलु रखना यह सब द्रव्यसंयम का स्वरूप है। भावसंयम का उल्लेख करके यह कहना कि इसमें वस्त्र-त्याग कहां है एक अद्भुत बात है।

इसके सिवा जो भावसंयम धवलसिद्धान्त से प्रो० सा० पांच पापों का छोड़ना मात्र बताते हैं सो भी नहीं है। देखिये—

"अथवा व्रतसमितिकषायदण्डेन्द्रियाणां धारणानुपालननिग्रहत्यागजयाः संयमः।"

(धवलसिद्धांत पृष्ठ १४४)

अथवा व्रतों का धारण करना, समितियों का पालन

करना, कषायों का निग्रह करना, मन-वचन-काय इन तीन दण्डों का त्याग करना तथा पांचों इन्द्रियों पर विजय करना यह भी संयम है।

प्रो० सा० केवल व्रतों का नाम ही संयम बताते थे किन्तु उसी धवल में दूसरे भी संयम के भेद हैं फिर इतना ही नहीं है, उत्तम क्षमा आदि दश धर्म भी संयम हैं। परीषह जय भी संयम है। सामायिक छेदोपस्थापना आदि चारित्र भी संयम है। ये सभी संयम के स्वरूप हैं। परन्तु प्रो० सा० ने धवलसिद्धान्त का नाम देकर केवल व्रतों को संयम बता कर यह सिद्ध करना चाहा है कि वस्त्र-त्याग संयम में नहीं है सो उनका वैसा कथन विपरीत है। द्रव्यसंयम और भाव-संयम के अन्तर को उन्हें समझना चाहिये, साथ ही पांच व्रत मात्र ही भावसंयम नहीं है किंतु भावसंयम के अनेक भेद हैं। अठारह हजार शील के भेद, लाखों उत्तर गुण ये सब भावसंयम के भेदों में गर्भित हैं।

बस जिन ग्रन्थों के प्रमाणों से प्रो० सा० ने सवस्त्र संयम और सवस्त्र मोक्ष-सिद्धि विधान बताया है उन सब ग्रन्थों के वे ही प्रमाण उनके कथन के सर्वथा विपरीत—वस्त्र-त्याग के अनिवार्य विधायक हैं उन सब ग्रन्थों से यह बात सिद्ध हो जाती है कि बिना वस्त्र-त्याग किये संयम का होना एवं मुक्ति का पाना सर्वथा असम्भव है।

आगे इस प्रकरण के अन्त में प्रो० सा० लिखते हैं कि—

"इस प्रकार दिगम्बर शास्त्रानुसार भी मुनि के लिये एकान्ततः वस्त्र-त्याग का विधान नहीं पाया जाता, हां कुंदकुंदाचार्य ने ऐसा विधान किया है पर उसका उक्त प्रमाण ग्रन्थों से मेल नहीं बैठता।"

प्रोफेसर साहब ने अपने कथन की सिद्धि में जो प्रमाण दिये थे उनका वे अर्थ नहीं समझे हैं हमने ऊपर यह स्पष्ट बता दिया है। उन्होंने एक भी दिगम्बर ग्रन्थका कोई प्रमाण ऐसा नहीं दिया है जिससे सवस्त्र-संयम और सवस्त्र मोक्ष की सिद्धि होती हो। फिर एकान्ततः वस्त्र-त्याग का विधान नहीं पाया जाना ऐसा उनका लिखना व्यर्थ और निःसार है। भगवान कुन्दकुन्द स्वामी ने जो वस्त्र-त्याग का अनिवार्य विधान किया है वही विधान समस्त दिगम्बर जैन शास्त्रों का और उनके पहिले तथा पीछे के समस्त आचार्यों का भी वही विधान है। इस लिये "कुन्दकुन्दाचार्य के विधान का अन्य आचार्यों के प्रमाण ग्रन्थों से मेल नहीं बैठता" यह प्रो० सा० का कहना भी सर्वथा मिथ्या है, यह बात हमारे ऊपर के प्रमाणों से भली भांति सिद्ध है। पाठक ध्यान से पढ़ लेवें।

धवलसिद्धान्त में वस्त्र-त्याग, संयम एवं मोक्ष प्राप्ति के लिये अनिवार्य परमावश्यक कारण है यह बात स्पष्ट की गई है। स्त्री-मुक्ति निराकरण में हम स्पष्ट कर चुके हैं। देखिये—

"दव्वित्थिवेदा संजमं ण पडिवज्जंति-सचेलत्तादो"

(धवलसिद्धान्त सत्प्ररूपणा पृ० ५१३)

अर्थात्—द्रव्य-स्त्री के संयम नहीं हो सकता है, क्योंकि वह सचेल अर्थात् वस्त्र धारण किये हुए रहती है। और भी देखिये—

"द्रव्यस्त्रीणां निर्वृत्तिः सिद्धयेदितिचेन्न-सवासस्त्वात्-प्रत्याख्यान-गुणस्थितानां संयमानुपपत्तेः भावसंयमस्तासां सवाससामप्यविरुद्ध इति चेन्न, न तासां भावसंयमोऽस्ति भावा-संयमाविनाभावि-वस्त्राद्युपादानान्यथानुपपत्तेः।"

(धवलसिद्धान्त सत्प्ररूपणा पृष्ठ ३३३)

अर्थ—द्रव्य-स्त्रियों के मोक्ष जाना भी सिद्ध होगा? शंकाके उत्तर में धवलसिद्धान्तकार कहते हैं कि नहीं; अर्थात् द्रव्य-स्त्री मोक्ष इस लिये नहीं जा सकती कि वह वस्त्र नहीं छोड़ सकती है। आगे फिर भी शंका उठाते हैं कि वे यदि वस्त्र भी धारण किये रहें तो भाव संयम उनके (द्रव्य-स्त्रियों के) हो जायगा, इसमें क्या बाधा है? आचार्य कहते हैं कि वस्त्रों का धारण करना असंयमभाव का अविनाभावी है। वस्त्र धारण करनेसे संयमभाव नहीं हो सकता है किंतु असंयम-भाव (एक देश संयम) ही रहता है।

इस धवलसिद्धान्त के कथनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि संयम प्राप्ति के लिये एवं मोक्ष प्राप्ति के लिये वस्त्र-त्याग अनिवार्य आवश्यक कारण है।

मुनियों के क्षुधा-पिपासा आदि बावीस परीषहों का सहन करना बताया गया है उनमें एक नाग्न्य (नग्न रहना)

परीषह भी है इसका स्वरूप इस प्रकार है—

जातरूपवन्निष्कलंकजातरूपधारणमशक्यप्रार्थनीयं याचनरक्षणहिंसादिदोषविनिर्मुक्तं निष्परिग्रहत्वान्निर्वाणप्राप्तिं प्रत्येकं साधनमनन्यबाधनं नाग्न्यं बिभ्रतः मनोविक्रिया-विप्लुतिविरहात् स्त्रीरूपाण्यत्यन्ताशुचि-कुणपरूपेण भावयतः रात्रिं दिवं ब्रह्मचर्यमखण्डमातिष्ठमानस्याऽचेल व्रत-धारणं मन-वद्यमवगन्तव्यम् ।

(सर्वार्थ-सिद्धि पृ० २८५)

इन पंक्तियों का आशय यही है कि—निर्विकार बालक के समान नग्नरूप धारण करना, जिस नग्नरूप में किसी से वस्त्रादि की याचना नहीं की जाती है।

इसी प्रकार वस्त्रों की रक्षा, प्रक्षालन आदि से उत्पन्न उत्पन्न हिंसादि दोष भी नग्नता में नहीं आते हैं। नग्नता निष्परिग्रहता, परिग्रह-त्याग का स्वरूप है और वह मोक्ष-प्राप्ति के लिये एक मुख्य साधन है। किसी जीव को इससे बाधा भी नहीं आती है। इस नग्नता से मनमें कोई विकार भाव भी जागृत नहीं होता। नग्न मुनि स्त्रियों को अत्यन्त अप-वित्र एवं निंद्य समझता है। और रात दिन अखण्ड निर्दोष ब्रह्मचर्य धारण करता है। ऐसा ही नग्न रहने वाला मुनि अचेल व्रतधारी सर्वथा निर्दोष और निष्परिग्रही कहलाता है।

ऐसा ही कथन राजवार्तिक आदि ग्रन्थों में है। इन सब शास्त्रीय प्रमाणों से यह निर्विवाद सिद्ध है कि वस्त्र-त्याग

संयम और मोक्ष प्राप्ति के लिये मुख्य कारण है। दिगम्बर शब्द का यही अर्थ है कि जिसके दिशाएँ ही अम्बर-वस्त्र हों। अर्थात् जो वस्त्रादि सब परिग्रह का त्यागी नग्न हो- केवल आकाशप्रदेश पंक्ति (दिशारूपी) वस्त्र ही धारण करता हो, वही दिगम्बर कहलाता है। इस लिये दिगम्बर जैनधर्म में सवस्त्र-संयम प्राप्ति एवं सवस्त्र मोक्ष प्राप्ति के लिये किञ्चिन्मात्र भी स्थान नहीं है। इसके लिये दिगम्बर सिद्धान्त के सैकड़ों ग्रंथ अथवा मुनिधर्म स्वरूप निरूपक सभी ग्रन्थ प्रमाण भूत हैं। हम यदि कतिपय और ग्रन्थों का प्रमाण देते हैं तो यह लेख बढ़ता है। फिर जो प्रमाण दिए गये हैं वे पर्याप्त हैं। हमारे लिये तो एक भगवान कुन्दकुन्द स्वामी का प्रमाण ही पर्याप्त है। जो उनकी मान्यता है वही समस्त दिगम्बर जैनाचार्यों की मान्यता है।

केवलीके भूख-प्यासादिकी वेदनाका होना असंभव है

प्रो० हीरालाल जी ने तीसरी बात यह लिखी है कि केवली भगवान को भूख प्यास की वेदना रहती है। अर्थात्- उन्हें भूख प्यास लगती है। इस विषय में उनकी पंक्तियां इस प्रकार हैं—

"कुन्दाकुन्दाचार्य ने केवली के भूख प्यासादि की वेदना का निषेध किया है पर तत्वार्थ-सूत्रकार ने सबलता से कर्म-सिद्धान्तानुसार यह सिद्ध किया है कि वेदनीयोदय-जन्य क्षुधा पिपासादि ग्यारह परीषह केवली के भी होते हैं (देखो अध्याय ६ सूत्र ८-१७) सर्वार्थ सिद्धिकार एवं राजवार्तिककार ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि मोहनीय कर्मोदय के अभाव में वेदनीय का प्रभाव जर्जरित हो जाता है इससे वेदनाऐं केवली के नहीं होतीं। पर कर्मसिद्धान्त से यह बात सिद्ध नहीं होती।"

पाठक महोदय प्रो० सा० की इन पंक्तियों को ध्यान से पढ़ लेवें। वे तत्वार्थ सूत्र से तो केवली भगवान के क्षुधा पिपासादि की वेदना सिद्ध करना चाहते हैं परन्तु साथ ही सर्वार्थ सिद्धि राजवार्तिक आदि ग्रन्थों में जो आचार्य पूज्य-पाद और आचार्य अकलंक देव, आचार्य विद्यानंदि आदि ने उस तत्वार्थ सूत्र का खुलासा अर्थ किया है उस पर वे उन आचार्यों के लिये लिखते हैं कि 'उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि केवली के क्षुधा पिपासादि की वेदना नहीं होती है परन्तु कर्मसिद्धांत से यह बात सिद्ध नहीं होती है।'

हमें इन पंक्तियों को पढ़ कर प्रो० सा० के अनुभव और उनके ऐसे लिखने पर बहुत खेद होता है। पहले वे स्त्री मुक्ति और सवस्त्र मुक्ति के प्रकरण में भगवान कुन्दकुन्द स्वामी के लिये लिख चुके हैं कि उन्होंने जो स्त्री मुक्ति और

सवस्त्र मुक्ति का निषेध किया है वह कर्मसिद्धांत से वैसा सिद्ध नहीं होता और दूसरे आचार्यों के मत से भी मेल नहीं खाता। परन्तु इन सब बातों का खण्डन हम अनेक प्रमाणों से कर चुके हैं और यह बात खुलासा कर चुके हैं कि कर्म सिद्धान्त के आधार पर तथा गुणस्थान-क्रम-रचना के आधार पर स्त्री-मुक्ति और सवस्त्र-संयम किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता है। साथ ही यह भी बता चुके हैं कि भगवान कुन्दकुन्दाचार्य का शासन दि० जैनधर्म में प्रधान है। उनकी मान्यता सर्वज्ञ प्रणीत आगम के आधार पर है और किसी भी ग्रंथ प्रणेता आचार्य का उनके सिद्धान्त से मतभेद नहीं है।

"केवली को भूख प्यास लगती है अब इस बात की सिद्धि में वे भगवान अकलंकदेव विद्यानन्दि और पूज्यपाद इन महान् आचार्योंके लिये भी यह लिख रहे हैं कि 'इनका लिखना सिद्धान्त के अनुसार नहीं है।'

अब तो यह कहना चाहिये कि कर्मसिद्धांत के रहस्य को प्रो० सा० के सिवा कोई भी नहीं समझता होगा सिद्धान्त चक्रवर्ती नेमिचन्द्र आचार्य ने भी केवली के क्षुधा प्यास लगने का पूर्ण खण्डन किया है। प्रो० सा० उन्हें भी कर्म-सिद्धान्त के ज्ञाता नहीं समझते होंगे। दि० जैनधर्म में जितने भी आचार्य हुए हैं, उन सबों से प्रो० सा० का मत विरुद्ध है। इस लिये उनके खयाल से वे शायद सभी कर्मसिद्धांत के

जानकार नहीं होंगे।

समस्त घातिया कर्मों को नष्ट कर अनन्त सुख का अनुभव करने वाले, परम विशुद्ध, इन्द्र, चक्रवर्ती, एवं गणधरादि महर्षियों द्वारा परमवन्दनीय परमात्माके क्षुधा प्यास की वेदना बताने का साहस करना और प्रकारान्तर से दिगम्बराचार्यों को कर्मसिद्धांतके अजानकार बताना यह आगम विरुद्ध एवं असह्य बात है ? जहां भूख प्यासकी वेदना है। वहां क्या देवपना रह सकता है ? इस बात को तो हम आगे, अच्छी तरह सिद्ध करेंगे। परन्तु प्रो० सा० से यह पूछना चाहते हैं कि सर्वार्थ सिद्धि राजवार्तिक और श्लोकवार्तिककार ने जो तत्वार्थसूत्र का अर्थ किया है, वह तो ठीक नहीं। क्योंकि उन्होंने तो केवली के क्षुधादि बाधाओं का सर्वथा अभाव बताया है। वे सब तो प्रो० सा० की ख्यालसे कर्मसिद्धान्त के वेत्ता नहीं थे परन्तु तत्वार्थसूत्र से केवली भगवान के क्षुधा प्यास की बाधा सिद्ध करने वाले प्रो० सा० ने उस तत्वार्थसूत्र का वही अर्थ है जो वे कहते हैं यह बात किस दिव्यज्ञान से जानली ? या और कौन सी गुप्तटीका उन्हें मिली है जिसमें उनकी समझ के अनुकूल अर्थ मिल गया है। यदि हो तो वे प्रगट करें, यदि ऐसी टीका कोई नहीं है तो तत्वार्थसूत्र की टीका करने वाले और उसी सिद्धान्तका प्रतिपादन करने वाले आचार्य पूज्यपाद, आचार्य विद्यानन्दि, आचार्य अकलंकदेव इत्यादि सभी आचार्यों को तो कर्मसिद्धान्त का रहस्य तथा तत्वार्थसूत्र का ठीक २ अर्थ

समझ में नहीं आया और प्रो० सा० की समझ में आगया यह बात वे किस आधार से कहते हैं सो प्रगट करें ? जिससे कि उनके बतलाये गये अभिप्रायको निर्भ्रान्त माना जा सके।

अब आगे हम उनके दिये गये प्रमाण और हेतुओं पर विचार कर उन्हें यह बात सप्रमाण एवं सहेतुक बता देना चाहते हैं कि उनका लिखना सर्वथा निराधार और मिथ्या है।

तत्वार्थसूत्र के ९वें अध्याय का ११वां सूत्र—

"एकादश जिने" है।

इस सूत्र का अर्थ सर्वार्थसिद्धिकार—आचार्य पूज्यपाद ने इस प्रकार किया है—

"निरस्त-घातिकर्म-चतुष्टये जिने वेदनीय-सद्भावात् तदाश्रया एकादश परीषहाः सन्ति। ननु मोहनीयोदयसहायाभावात् क्षुधादिवेदनाभावे परीषहव्यपदेशो न युक्तः ? सत्यमेवमेतत्-वेदनाभावेपि द्रव्यकर्मसद्भावापेक्षया परीषहोपचारः क्रियते"

सर्वार्थसिद्धि २८९–२९०)

इसका अर्थ यह है कि चारों घातिया कर्मों को नष्ट करने वाले जिनेन्द्र भगवान के मोहनीय कर्म नष्ट हो चुका है इस लिये मोहनीय कर्म के उदय की सहायता नहीं मिलने से क्षुधादि वेदना उनके नहीं हो सकती फिर उनके परीषह क्यों बताई गई हैं ? उत्तर में कहा जाता है कि यह बात ठीक है, यद्यपि जिनेन्द्र भगवान के वेदनीय कर्म का सद्भाव होने से क्षुधा आदि परीषहों का उपचार मात्र किया जाता है।

इस कथन की पुष्टि में सर्वार्थसिद्धिकार ने यह दृष्टान्त दिया है कि जिस प्रकार सर्वज्ञ भगवानके चिंता-निरोध लक्षण ध्यान नहीं है फिर भी कर्मों की निर्जरा होने के कारण वहां पर भी ध्यान का उपचार माना गया है। उसी प्रकार वेदनीय कर्मोदय वश केवल उपचार से भगवान के परीषहें मानी गई हैं।

इस सर्वार्थसिद्धि टीका से यह अर्थ स्पष्ट होजाता है कि अर्हन्त भगवान के क्षुधादि वेदना सर्वथा नहीं है केवल वेदनीय कर्म का सद्भाव होनेसे उपचार मात्रसे वहां परीषह मानी गई हैं।

इसके आगे और भी स्पष्ट करते हुए सर्वार्थसिद्धिकार यहां तक लिखते हैं कि "अथवा एकादश जिने न सन्ति इति वाक्य शेषः कल्पनीयः" अथवा भगवान् केवली के ग्यारह परीषह नहीं होती हैं ऐसा भी अर्थ लगा लेना चाहिये। क्योंकि मोहनीय कर्म के उदय की सहायता वहां नहीं है। इसी बात की सिद्धि राजवार्तिककार अकलंकदेव ने भी की है। वे लिखते हैं—

वेदनीयोदयाभावात् क्षुधादि-प्रसंग इति चेन्न—
घातिकर्मोदयसहायाभावात् तत्सामर्थ्यविरहात् ॥
(राजवार्तिक ३३८)

शंका उठाई गई है कि वेदनीय कर्म का उदय होने से केवली भगवान के क्षुधादि का प्रसंग आवेगा? उत्तर में

आचार्य कहते हैं कि घातिया कर्मों के नष्ट हो जाने से उनकी सहायता नहीं मिलने से वेदनीय कर्म की साध्मर्य नष्ट हो जाती है।

इसके आगे राजवार्तिककार ने उदाहरण यह दिया है कि जिस प्रकार विष द्रव्य में मनुष्य को मारने की सामर्थ्य है परन्तु यदि मन्त्र और औषधि का प्रयोग किया जाय तो उस विष में फिर मारने की सामर्थ्य नहीं रहती है। ठीक इसी प्रकार ध्यानाग्नि द्वारा घाति कर्मों का नाश होने से वेदनीय कर्म की सामर्थ्य क्षीण हो जाती है। वह (जली हुई रस्सी के समान) रह जाता है उसमें अपना फल देने की सामर्थ्य नहीं रहती है। केवल द्रव्यकर्म का सद्भाव होने से परीषह का उपचार किया गया है इस राजवार्तिक के कथन से भी वही बात सिद्ध होती है जो सर्वार्थसिद्धिकार ने कही है।

अब श्लोक-वार्तिककार क्या कहते हैं सो जरा ध्यान से पढ़ लीजिये—

लेश्यैकदेशयोगस्य सद्भावादुपचर्यते।
यथा लेश्या जिने तद्वद्वेदनीयस्य तत्वतः॥

घाति इत्युपचर्यन्ते सत्ता-मात्रात्परीषहाः।
छद्मस्थवीतरागस्य यथेति परिनिश्चितम्॥

न क्षुदादेरभिव्यक्तिस्तत्र तद्धेतुभावतः।
योग-शून्ये जिने यद्वदन्यथातिप्रसंगतः॥

नेकं हेतुः क्षुदादीनां व्यक्तौ चेदं प्रतीयते।

तस्य मोहोदयाद् व्यक्तेरसद्वेद्योदयेपि च ॥
ग्रामेदरत्व-संपत्तो मोहापाये न सेद्यते ।
सत्याहाराभिलाषेपि नासद्वेद्योदयादृते ॥
न भोजनोपयोगस्यासत्वेनाप्यनुदीरणा ।
असाता वेदनीयस्य न चाहारे क्षणाद्विना ॥
क्षुद्विन्यशेषसामग्री-जन्याभिव्यंजते कथं ।
तद्वैकल्ये सयोगस्य पिपासादेरयोगतः ॥
क्षुदादि वेदनोद्भूतौ नार्हतोऽनंतशर्मता ।
निराहारस्य चाशक्तौ स्थातुं नानंतशक्तिता ॥
नित्योपयुक्तबोधस्य न च संज्ञास्ति भोजने ।
पाने चेति क्षुदादीनां नाभिव्यक्तिर्जिनाधिपे ॥

(श्लोकवार्तिक पृ० ४९२)

इन कारिकाओं में हेतुवाद पूर्वक केवली भगवान के क्षुधादि वेदना का अभाव बताया गया है। आचार्य विद्यानंदि कहते हैं कि जिस प्रकार भगवान अर्हन्त के कषायों का अभाव हो चुका है योगमात्र रहता है इस लिये वहां लेश्या उपचार से मानी जाती है, उसी प्रकार घातिया कर्मों का नाश होने पर भी वेदनीय कर्म का सद्भाव रहने से उन अर्हन्त के परीषह भी उपचार से मानी जाती हैं। जिस प्रकार अयोग केवली भगवान के क्षुधादि बाधा नहीं होती है उसी प्रकार अर्हन्त भगवान के भी नहीं होती है। क्षुधा पिपासा की बाधा नीचे लिखे कारणों से हो सकती है—

१– मोहनीय कर्म का उदय होना चाहिये तभी क्षुधादि की बाधा हो सकती है।

२– असाता वेदनीय का भी उदय होना चाहिये।

३– साथ में पेट खाली रहना चाहिये।

४– आहार करने की अभिलाषा–चाहना भी होना चाहिये।

परन्तु ये सब बातें बिना मोहनीय कर्म के साथ २ असाता वेदनीय कर्म के उदय से नहीं हो सकती हैं। तथा भोजन करने के लिये उपयोग नहीं होने पर तथा आहार सामग्री के नहीं देखने पर असाता कर्म की उदीरणा भी नहीं हो सकती है। जब क्षुधा आदि बाधा को पैदा करने वाली सामग्री ही नहीं है तब अर्हन्त भगवान के क्षुधादि की बाधा भी नहीं हो सकती है।

यदि भगवान अर्हन्त के क्षुधादि की बाधा मानी जायगी तो उनके अनन्त सुख सिद्ध नहीं होता है। और यदि वे निरा–हार नहीं रह सकते हैं तो भगवान के अनन्त शक्ति मानी गई है वह कैसे सिद्ध होगी ? तथा भगवान सदैव अनन्त ज्ञान में उपयुक्त रहते हैं तब उनके भोजन और पान करने की संज्ञा (आहार संज्ञा) कैसे उत्पन्न हो सकती है ? नहीं हो सकती। इस लिये जिनेन्द्र भगवान के भोजन पान की बाधा बताना मिथ्या है।

अब पाठक स्वयं विचार करें कि तत्वार्थसूत्र के "एका-दश जिने" इस सूत्र का अर्थ सर्वार्थ–सिद्धि, राजवार्तिक तथा

श्लोक-वार्तिककार ने जो किया है उससे भगवान अर्हन्त के क्षुधादि की बाधा सिद्ध नहीं होती है। प्रो० सा० इस सूत्र से भगवान के क्षुधादि बाधा का होना किस आधार पर सिद्ध करते हैं ? सभी टीकाओं से और इतर सभी ग्रन्थोंसे क्षुधादि बाधा का होना भगवान के असम्भव है।

लाभान्तरायस्या-शेषस्य निरासात् परित्यक्त-कवलाहार-क्रियाणां केवलिनां यतः शरीर-बलाधानहेतवोऽन्य-मनुजा-साधारणाः परमशुभाः सूक्ष्माः अनंताः प्रतिसमयं पुद्गलाः सम्बन्धमुपयान्ति स क्षायिको लाभः (सर्वार्थसिद्धिः पृ० ६१)

अर्थात्—लाभान्तराय कर्म के क्षय होने से केवली भगवान के कवलाहार वर्जित होने से उनके शरीर के बला-धान के कारण-भूत जो अन्य मनुष्यों में नहीं पाये जा सकें ऐसे परम शुभ, सूक्ष्म, अनन्त पुद्गल परमाणु प्रति समय सम्बन्ध करते रहते हैं यही उनके क्षायिक लाभ है।

इसके सिवा जो केवली भगवान के ३४ अतिशय बताये गये हैं उनमें १० अतिशय केवलज्ञान के हैं उनमें एक अति-शय कवलाहार का नहीं होना भी है।

अतः हम तो यहां तक कहते हैं कि केवल तत्वार्थसूत्र ही क्यों किसी भी दिगम्बर जैन शास्त्र एवं किसी भी दिगम्बर जैन आचार्य के मत से प्रो० सा० केवली भगवान के क्षुधादि बाधा सिद्ध नहीं कर सकते हैं।

इसके आगे वे लिखते हैं—

"मोहनीय के अभाव में रागद्वेष परिणति का अभाव अवश्य होगा पर वेदनीय-जन्य वेदना का अभाव नहीं हो सकेगा। यदि वैसा होता तो फिर मोहनीय कर्म के अभाव के पश्चात् वेदनीय का उदय माना ही क्यों जाता ? वेदनीय का उदय सयोगी और अयोगी गुणस्थान में भी आयु के अन्तिम समय तक बराबर बना रहता है। इसके मानते हुए तत्संबंधी वेदनाओं का अभाव मानना शास्त्र सम्मत नहीं ठहरता" .

प्रो० सा० का कहना ऊपर की पंक्तियों से पाठक समझ लेवें। प्रो० सा० की मूल बात इतनी ही है कि वे मोहनीय के अभाव में रागद्वेष का अभाव भगवान के बताते हैं परन्तु वेदनीय कर्म का उदय रहने से उनके क्षुधादि की वेदना बाधा का सद्भाव बताते हैं।

परन्तु प्रो० सा० को यह समझ लेना चाहिये कि वेदनीय कर्म अघाती प्रकृति है वह स्वयं आत्मीय गुणों का घात करने में सर्वथा असमर्थ है, उसकी सहायक मोहनीय प्रकृति का जब तक उदय नहीं होता तब तक केवल वेदनीय प्रकृति कुछ नहीं कर सकती। अनुभव भी यही बताता है कि सुख दुःख का अनुभव करना साता असाता वेदनीय का कार्य है परन्तु सुख दुःख का अनुभव भी आत्मा में तभी हो सकता है जब कि किसी वस्तु में इष्ट अनिष्ट बुद्धि हो, जिसमें इष्ट बुद्धि या अनुराग होगा उसकी प्राप्ति से सुख का अनुभव होगा, जिस वस्तु में अनिष्ट बुद्धि होगी उसकी प्राप्ति में दुःख का अनुभव

होगा। इसी लिये जहां पर मोहनीय कर्म का मंदोदय हो जाता है एवं तज्जन्य रागद्वेष की मात्रा कम होजाती है वहां वस्तुओं में अथवा इन्द्रिय विषयीभूत पदार्थों में इष्ट अनिष्ट बुद्धि नहीं रहती है वैसी अवस्था में उन वस्तुओं की प्राप्ति अप्राप्ति में आत्मा सुख दुःख भी नहीं मानता है किन्तु समताभाव रहने से माध्यस्थ भाव रहता है।

दूसरी बात यह भी है कि वेदनीय कर्म साता असाता रूप परिणमन करता है। और उसका फल सुख दुःख का अनुभव है। यह सुख दुःख कर्म का ही फल है इस लिये जैसे दुःख सांसारिक है वैसे साता-जन्य सुख भी सांसारिक सुख है यही मानना पड़ेगा। तो यदि भगवान अर्हन्त के वेदनीय के उदय से साता के उदय से सुख का सद्भाव माना जाय तो वह सुख सांसारिक होगा, फिर जो अनन्त सुख अर्हन्त भगवान के माना गया है वह नहीं बनेगा। क्योंकि उस अनंत सुख को सांसारिक सुख से सर्वथा भिन्न आत्मीय सुख माना गया है।

भगवान अर्हन्त के जो अनन्त सुख माना गया है वह क्षायिक सुख है, जैसा कि—

अन्यत्र केवलज्ञानं क्षायिकं दर्शनं सुखम्।
वीर्यञ्चेति सुविख्यातं स्यादनंतचतुष्टयम्॥

(पञ्चाध्यायी १५७ पृ०)

अर्थात्—भगवान अर्हन्त के क्षायिक ज्ञान, क्षायिक

दर्शन, क्षायिक सुख और क्षायिक वीर्य गुण ये अनंत चतुष्क प्रगट हो जाता है। यदि उनके साता-जन्य सुख माना जायगा तो वह सुख साता कर्म के उदय से होगा इस लिये वह औद-यिक कहा जायगा। औदयिक होनेसे आत्मीय सुख नहीं होगा परन्तु भगवान के अनन्त सुख क्षायिक भाव माना गया है। यह शास्त्रीय विरोध भी भगवान के क्षुधादि बाधा का बाधक है। जब उनके अनन्त सुख क्षायिक हो चुका है तो वह सदैव रहेगा और वैसी अवस्था में क्षुधादि बाधा-जन्य दुःख का उनके लेश भी कभी नहीं हो सकता है।

तीसरी बात यह है कि क्षुधादि बाधा का होना दुःख रूप कार्य है वह असाता का फल हो सकता है, साता का नहीं हो सकता। परन्तु भगवान के असाता का उदय साता रूप में ही परिणत हो जाता है। यथा—

समयट्ठिदिगो बंधो सादस्सुदयप्पिगो जदो तस्स।
तेण असादस्सुदओ सादसरूवेण परिणमदि॥
(गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा २७४)

अर्थात्—केवली भगवान के एक सातावेदनीयका ही बन्ध होता है सो भी एक समय मात्र स्थिति वाला होता है। इस कारण असाता का उदय भी साता रूप से ही परिणत हो जाता है। इसके लिये यह दृष्टान्त दिया गया है कि जैसे जहां मिष्ट जल का अथाह समुद्र भरा हुआ है; खारे जल की एक बूंद का कोई असर नहीं हो सकता है। इसके आगे

यह बताया गया है कि भगवान के निरन्तर साता वेदनीय का ही उदय रहता है। इस लिये असाताके उदयसे होने वाली क्षुधादि परीषहें भगवान के नहीं हो सकती हैं। प्रमाण—

एदेण कारणेण दु सादस्सेव दु णिरंतरो उदओ।
तेणासादणिमित्ता परीसहा जिणवरे णत्थि॥

(गोम्मटसार कर्म० २७५ गाथा)

अर्थ ऊपर किया जा चुका है।

कर्मसिद्धान्त के प्रधान प्रतिपादक आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती जब यह कहते हैं कि क्षुधादि बाधा असातोदय में होती है। भगवान के असातोदय नहीं है, इस लिये उनके क्षुधादि परीषह नहीं हैं। तब प्रो० सा० भगवानके क्षुधादि बाधा किस कर्म के उदय से बताते हैं और किस आधार से बताते हैं सो स्पष्ट करें ? तब आगे विचार किया जा सकता है।

फिर भगवान के साताकर्म का उदय भी आत्मा में सुख पैदा करता हो यह भी नहीं है। वहां तो साता असाता-जन्य सुख दुःख का लेश भी नहीं है। यथा—

णट्ठय रायदोसा इंदियणाणं च केवलिम्मि जदो।
तेण दु सादासादज सुख दुःखं णत्थि इंदियजं॥

(गो० क० २७३)

अर्थात्—केवली भगवान के रागद्वेष और इन्द्रिय ज्ञान नष्ट हो चुका है। इस लिये उनके साता असाता से

होने वाला सुख दुःख दोनों ही नहीं हैं। क्योंकि साता-असाताजन्य सुख दुःख इन्द्रिय-जन्य हैं परन्तु भगवान के अतींद्रिय सुख और अतींद्रिय ज्ञान है॥

इस कथन से बहुत स्पष्ट हो जाता है कि भगवान के अतींद्रिय, आत्मोत्थ, अनन्त, सुख क्षायिक है अतः उनके क्षुधादि वेदना का सद्भाव कभी नहीं हो सकता है।

फिर एक बात हम और भी बताते हैं वह यह है कि क्षुधा पिपासा की वेदना का अनुभव किसी भी जीव को तभी हो सकता है, जब कि उसके इच्छा का सद्भाव हो। मुझे भूख लगी है अथवा प्यास लगी है, यह लगनारूप कार्य बिना इच्छा के कभी नहीं हो सकता है भले ही कोई व्यक्ति उस क्षुधा प्यास की निवृत्ति नहीं करे, उसे सहन कर लेवे, परन्तु भूख का लगना या प्यास का लगना बिना इच्छा के अनुभव में कैसे आ सकता है? नहीं आ सकता।

हमें यह मालूम नहीं है कि प्रो० सा० भगवान केवली के क्षुधादि बाधा का होना ही बताते हैं वा वे उनके कवलाहार भोजन करना भी मानते हैं। जो भी हो यह बात उन्होंने अपने लेख में प्रगट नहीं की है, परन्तु जहां क्षुधादि बाधा है वहां सातोदय से उसकी निवृत्ति भी भोजनादि से माननी पड़ेगी। फिर तो शरीर की स्थिति और शारीरिक प्राकृतिक आधार पर भगवान के और भी अनेक बातें स्वीकार करनी पड़ेंगी? अस्तु, इन बातों पर हम कुछ भी विचार नहीं करना

चाहते हैं, जितना प्रकृत विषय है उसी पर विचार करते हैं।

जब क्षुधादि बाधा इच्छापूर्वक होती है तब इच्छा का सद्भाव भी भगवान के मानना पड़ेगा और "इच्छा च लोभपर्यायः" इच्छा लोभ की पर्याय है अतः भगवान लोभ कषाय भी मानना पड़ेगा।

इस लिये शास्त्राधार से यह सिद्ध है कि भगवान के जो वेदनीय कर्म का उदय है वह मोहनीय की सहायता के बिना कुछ नहीं कर सकता। फिर भी कर्मोदय की अपेक्षा केवल उपचार से भगवान के ग्यारह परीषह कही गई हैं।

यह कथन उसी प्रकार का उपचार कथन है कि जिस प्रकार आठवें नौवें गुणस्थानों में पुंवेद, स्त्रीवेद और नपुंसक वेदों का उदय होने से भावपुरुष, भावस्त्री, भावनपुंसक माने जाते हैं। यदि वेदों का उदय होने मात्र से उन ८ वें ९ वें गुणस्थानों में भी उनका कार्य माना जाय तो वहां भी उन अप्रमत्त, उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी चढ़ने वाले वीतरागी शुक्ल ध्यानारूढ़ मुनिराजों के भी काम-वासना का सद्भाव मानना पड़ेगा? क्योंकि वेदों का उदय वहां पर है ही। तो क्या प्रोफेसर साहब शुक्लध्यानी क्षपक श्रेणी वालों के भी काम-वासना स्वीकार करते हैं? बतावें। नहीं करते तो क्यों नहीं करते? जब कि कर्मोदय है। यदि वे भगवान के क्षुधादि बाधा के समान वहां भी काम-वासना मानते हैं तो फिर क्षपक श्रेणी चढ़ने एवं बादर-कृष्टि, सूक्ष्म-कृष्टि भावों की

श्रृंखला द्वारा जो कर्म क्षय किया जाता है वैसी आत्मा विशुद्ध रह सकती है क्या ? नहीं रह सकती। और वहां फिर शुक्लध्यान नहीं रहकर ब्रह्मचर्यका घातक रौद्रध्यान ही ठहरेगा यदि वे कहें कि वहां केवल संज्वलन कषाय है सो भी अत्यन्त मन्द है, इस लिये वहां पर वेद कर्म का उदय कुछ कर नहीं सकता है तो फिर केवली भगवान के राग-द्वेष के अभाव में वेदनीय का उदय क्षुधादि बाधा क्यों पैदा कर सकता है ?

अब अधिक लिखना व्यर्थ है, यहां पर हम शास्त्रीय प्रमाण देकर यह बता देना चाहते हैं कि वेदनीय कर्म बिना मोहनीय की सहायता के कुछ भी नहीं कर सकता। यथा—

जणो कसाय विग्घ चउक्काणबलेण साद पदुदीणं।
सुहपयडीणुदयभवं इंदियतोसंहवे सोक्खं ॥

(लब्धिसार गाथा ६११)

अर्थ—नोकषाय और चार अन्तराय के उदय के बल से साता वेदनीय आदि शुभ प्रकृतियों के उदय से जो इन्द्रिय सन्तोष होता है उसका नाम इन्द्रिय-जनित सुख है। वह केवली के सम्भव नहीं है। क्योंकि उनके इन्द्रिय-जन्य सुख नहीं है।

इससे यह सिद्ध होता है कि केवल साता का उदय कुछ नहीं कर सकता, उसे नोकषाय, और चारों अन्तराय कर्मों का उदय सहायक होता है तभी वह सातोदय कार्य कर सकता है।

बिना मोहनीय की सहायता के वेदनीय कर्म कुछ नहीं कर सकता इसके लिये प्रमाण—

घादिंव वेयणीयं मोहस्स बलेण घाददे जीवं।
इदि घादीणं मज्झे मोहस्सादिम्मि पठिदं तु॥
(गोम्मटसार कर्म० १६ गाथा)

वेदनीय कर्म, मोहनीय कम के बल से ही घातियों के समान जीवों का घात करता है। अर्थात वस्तु में रागद्वेष रूप भावों से इष्टानिष्ट बुद्धि होने से ही सुख-दुःख का अनुभव होता है। इस लिये मोहनीय की सहायता के बिना वेदनीय कर्म उदय मात्र रहता है। जैसे क्षपक श्रेणी चढ़ने वाले शुक्लध्यानी मुनियों के पुंवेद, स्त्रीवेद का उदय नाममात्र है। कार्यकारी नहीं है वैसे वेदनीय भी नाममात्र है। वह क्षुधादि बाधा नहीं कर सकता है।

यदि प्रो० सा० के मन्तव्यानुसार सयोग केवली भगवान के आहार संज्ञा है तो वह चौदहवें गुणस्थान में भी रहेगी, क्योंकि वेदनीय का उदय तो वहां भी है। फिर तो भोजन करते २ ही मोक्ष हो जायगी। चौदहवें गुणस्थानमें क्षुधादि बाधा वे मानते हैं या नहीं, सो भी प्रगट करें।

फिर क्षुधादि बाधा का नाम ही आहार संज्ञा है। आहार संज्ञा छठे गुणस्थान में ही नष्ट हो जाती है फिर उससे ऊपर क्षुधादि बाधा किस प्रकार हो सकती है? नहीं हो सकती। यथा—

णट्ठपमाए पढमा सण्णा णहि तत्थ कारणाभावा।

(गो० जी० गाथा १३८)

अर्थात्—प्रमत्त गुणस्थान से ऊपर पहली संज्ञा (आहार संज्ञा) नहीं है, क्योंकि वहां उसका कारण नहीं है।

भगवान अर्हन्त के क्षुधादि बाधा और कवलाहार मानने में हेतुवाद भी पूर्ण बाधक है। यथा—

१—भोजन करने से उनके वीतरागता भी नहीं रह सकती। कारण भोजन की अभिलाषा होगी और जहां अभिलाषा है वहां वीतरागता नहीं रह सकती।

२—केवली भगवान सर्वज्ञ हैं, अतः जहां २ जो वधक मछली को मार रहा है उसे तथा जो कोई मांसादि लिये बैठा है वह सब भी उन्हें प्रत्यक्ष दीखता है वैसी अवस्था में उनके भिक्षा-शुद्धि कैसे रह सकती है। और अन्तराय कैसे टाला जा सकेगा।

३—भोजन करने से भगवान के रसनेन्द्रिय का सद्भाव भी मानना पड़ेगा। फिर तो इन्द्रिय विषय-अभिलाषी वे ठहरेंगे।

४—यदि कहा जाय कि बिना भोजन किये भगवान का शरीर कैसे ठहरेगा तो यह भी बात नहीं बनती है क्योंकि आहार केवल कवलाहार ही नहीं है, कर्म आहार, नोकर्म आहार, कवलाहार, लेप्याहार, ओज-आहार, मनसाहार ऐसे आहार के छह भेद हैं। यथा—

णोकम्म कम्महारो कवलाहारो य लेप्पमाहारो ।
उज्झ मणोवि य कमसो आहारो छव्विहो णेओ ।
(सं० व० वि०)

अर्थ ऊपर किया जा चुका है। इन छह प्रकार के आहारों में किसके कौन होता है—

णोकम्मं तित्थयरे कम्मं णारेय माणसो अमरे।
कवलाहारो णरवसु उज्झो पक्खीये इगिलेऊ।
(सं० व० वि०)

अर्थात्—तीर्थंकरों के तो नोकर्म वर्गणाओं का आहार होता है, कर्म वर्गणाओं का आहार नारकियों के होता है। मानसिक आहार समस्त देवों के होता है। कवलाहार मनुष्य और पशुओं के होता रहता है। ओजाहार (उष्णता रूप आहार) पक्षियों के होता है और लेपाहार एकेन्द्रियों के होता है, पक्षियों के अण्डों में जीव रहता है, परन्तु उसकी रक्षा और वृद्धि ओज आहार से अर्थात् माताके पंखों की गर्मी से होती है। वृद्धि भी होती है। इसी प्रकार केवली के नोकर्म परमाणुओं का ही आहार है। साथ ही उनका परमौदारिक शरीर है, अतः वहां कवलाहार की आवश्यकता भी नहीं है। जैसे देवों के केवल मानसिक आहार माना गया है, उसीसे उनके शरीर की स्थिति आयुकर्म की प्रधानता से बनी रहती है, उसी प्रकार भगवान के नोकर्म का आहार समझना चाहिये, यदि वेदनीय के उदय से भोजन की

आकांक्षा भगवान के मानी जायगी तो फिर वेदोदय से ध्यानारूढ़ मुनिके स्त्री आदि की आकांक्षा माननी पड़ेगी।

५—यदि वेदनीय कर्म के उदय से भगवान के क्षुधा-बाधा मानी जायगी तो फिर उसी कर्म के उदय से उनके रोग बध आदि भी मानने पड़ेंगे। फिर तो भगवान के पेचिश आदि रोग का सद्भाव भी मानना पड़ेगा। क्योंकि वह भी वेदनीयोदय में होता है। रोग मानने पर फिर तो वैद्य तथा औषधि आदि सब साधनों की आवश्यकता होगी अत एव फिर तो भगवान में और संसारी मनुष्यों में कोई भेद न रहेगा। दूसरे भगवान का शरीर सप्त धातु-वर्जित तेजोमय होता है। इस लिये वहां पर कवलाहार की आवश्यकता ही नहीं है। यथा—

शुद्धस्फटिकसंकाशं तेजो मूर्तिमयं वपुः।
जायते क्षीणदोषस्य सप्तधातुविवर्जितम्।

(सं० व० वि० पृ० ३२)

अर्थात्—भगवान का शरीर शुद्ध स्फटिक के समान तेजरूप सप्तधातु रहित होता है। क्योंकि उनके शरीर में कोई दोष नहीं रहता है। आचार्य प्रभाचन्द्र ने 'एकादश-जिने' इस सूत्र का अर्थ करते हुए भगवान के परीषहों का निषेध इस प्रकार किया है। यथा—

यच्चोपचारतोपि अस्यैकादश परीषहा न संभाव्यते तत्र तन्निषेधपरत्वात् सूत्रस्य—एकेन अधिका न दश परिषहा जिने !!

क्षुधादि वेदना अथवा कवलाहार का निषेध करते हुए भगवत्कुन्दकुन्दाचार्य श्री कहते हैं —

जरवाहि दुःखरहियं आहारणिहारवज्जियं विमलं ।
सिंहाण खेलसेओ णत्थि दुगंछा य दोसो य ॥

(षट् प्राभृतादि संग्रह पृ० १०३)

अर्थात्—बुढ़ापा, व्याधि दुःखों से रहित, तथा आहार और मल-मूत्र की बाधा से रहित, निर्मल, नासिका का मल, कफ आदि से रहित, पसीना से रहित तथा अन्य सब प्रकार के ग्लानिमय दुःखों से रहित भगवान अर्हन्त होते हैं।

इसी बात को भगवान समन्तभद्राचार्य ने कहा है—

मानुषीं प्रकृतिमभ्यतीतवान्, देवतास्वपि च देवता यतः ।
तेन नाथ परमासि देवता, श्रेयसे जिनवृष प्रसीद नः ॥

(वृहत्स्वयंभू स्तोत्र)

अर्थात्—क्षुधादि बाधा और कवलाहादि करना आदि जो मनुष्यों की प्रकृति है उससे भगवान सर्वथा दूर हैं।

इसी बात को और भी स्पष्ट भगवान समन्तभद्र स्वामी ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा—.

क्षुत्पिपासाजरातङ्कजन्मातंकभयस्मयाः ।
न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते ॥

(रत्नकरण्ड श्रावकाचार)

अर्थात्—जिसके भूख, प्यास, बुढ़ापा, रोग, जन्म-मरण, भय, मद, रागद्वेष, मोह आदि कोई दोष नहीं है वही

अर्हन्त परमेष्ठी देव कहलाता है।

इतना स्पष्ट सहेतुक और सप्रमाण निषेध दिगम्बर जैनाचार्यों का मिलने पर भी प्रो० सा० अर्हन्त भगवान के किस प्रकार क्षुधादि की बाधा बताते हैं। सो आश्चर्य की बात है।

उन्होंने यह जो लिखा है कि यदि वैसा होता तो फिर मोहनीय कर्म के अभाव के पश्चात् वेदनीय का उदय माना ही क्यों जाता ?

यह तर्क उनकी वस्तुस्थिति, हेतुवाद और प्रमाणवाद से सर्वथा शून्य है। इस विषय में पहली बात तो यह है कि जो कुछ भी जैसा वस्तु का स्वरूप है वह उसी रूप में रहता है, ऐसा क्यों है यह तर्क व्यर्थ है। 'स्वभावोऽतर्क, गोचरः वस्तु स्वभाव तर्क से खण्डित नहीं होता है। नहीं तो कोई यह भी कह सकता है कि अग्नि उष्ण क्यों है ? तो यही कहा जायगा कि वैसा उसका स्वभाव है। इसी प्रकार जब अघाती कर्म सयोगी अयोगी गुणस्थानों में रहते हैं और घाती कर्म उससे पहले ही नष्ट हो जाते हैं यह वस्तु स्थिति सर्वज्ञ प्रत्यक्ष है तब मोहनीय के अभाव में वेदनीय का उदय क्यों माना ? यह तर्क व्यर्थ है।

यदि तर्क बल ही ठीक माना जाय तो यह भी तर्क हो सकता है कि जब चौदहवें गुणस्थान में कर्म नोकर्म रूप कोई वर्गणा का आश्रय ही नहीं होता है तब नाम कर्म और गोत्र

कर्म का उदय वहां क्या करता है? आयुकर्म के साथ चारों गतियों का बंध क्यों होता है जबकि आयु की अविनाभाविनी गति का ही जीव के उदय होता है, जिसने नरकायु का बंध किया है उस जीव के देवगति, मनुष्य गति, तिर्यग्गतियों का भी बंध क्यों होता है? जबकि वह जीव केवल नरकगतिमें ही जाने वाला है। सिद्धों के भव्यत्व गुण क्या करता है जबकि अब उनकी सिद्धि हो चुकी है? केवलज्ञान के साथ केवल दर्शनगुण क्या कार्य करता है जबकि केवली भगवान साक्षात् ज्ञान द्वारा विशेष ज्ञान करते हैं तब सामान्य दर्शन का वहां क्या काम बाकी रह जाता है और क्या उपयोग है? प्रो० सा० इन तर्कों का क्या समाधान करते हैं?

हम तो कहते हैं वस्तुस्थिति को कहां ले जाओगे जबकि सभी सातों कर्म हर समय जीव के बंधते रहते हैं तब आयु कर्म अकेला त्रिभाग में ही क्यों बंधता है? अथवा आठ अपकर्षकाल का समय आयु के त्रिभाग में ही क्यों पड़ता है? इन बातों का वे उत्तर देंगे?

हम तो इन सभी बातों को वस्तुस्थिति तो बताते ही हैं साथ ही सभी बातें आगम सिद्ध हैं, केवली के प्रत्यक्ष ज्ञानगम्य हैं। कर्म नो कर्म वर्गणाओं और जीव के उन भावों के प्रत्यक्ष-द्रष्टा चारज्ञानधारी गणधरदेव हैं तथा मनःपर्यय, अवधि-ज्ञानधारी आचार्य प्रत्याचार्यों द्वारा वे भाव वर्णित हैं। और हेतुगम्य युक्तिपूर्ण हैं।

संक्षेप में थोड़ा सा दिग्दर्शन हेतुवाद का भी कर देना ठीक होगा, देखिये—

वेदनीय का उदय मोहनीय के अभाव के पीछे भी क्यों माना गया है इसका उत्तर कार्यकारण भाव से समझ लेना चाहिये। क्षपक श्रेणी चढ़ने वाले जीव के मोहनीय कर्म की स्थिति कितनी पड़ती है और वेदनीय की कितनी पड़ती है, जहां दशवें गुणस्थान में सूक्ष्म लोभ का उदय रहता है, वहां उसकी सत्ता कितने समय की रह जाती है—केवल अन्त-र्मुहूर्तमात्र की, वह भी उसी दशवें के अन्तमें नष्ट हो जाती है, फिर मोहनीय कर्म आत्मा में लेशमात्र भी नहीं रहता है। परन्तु वेदनीय कर्म तो सत्ता में बैठा हुआ है और उदय में भी आता रहता है। इस लिये वह स्थिति और सत्ता रूप कारण के सद्भाव से मोहनीय कर्म के अभाव होने पर भी बना रहता है।

दूसरी बात यह भी समझ लेना चाहिये कि अघातिया कर्म सभी ऐसे हैं जो घातिया कर्मों के सदैव सहयोगी होकर कार्यकारी रहे हैं और जहां तक घातिया कर्मों का सहयोग बना हुआ रहता है, वहां तक उनका कार्य भी उदयानुसार होता रहता है, घातियों के अभाव से अघातिया कर्म उदय में ही रहते हैं, वहां उनका मुख्य कार्य नहीं रहता है। कदाचित् आयुकर्म के विषय में शंका उठाई जा सकती है, सो भी सूक्ष्म विचार करने पर दूर हो जाती है, कारण आयुकर्म की स्थिति

जितनी भी मोहनीय कर्म की सहायता से पड़ी थी उसी का सद्भाव मोहनीय के अभाव में रहता है। यदि आयुकर्म स्व-तन्त्र अथवा बिना मोहनीय की सहायता के अपना कार्य करता होता तो मोहनीय के अभाव होने पर आयुकर्म में थोड़ी सी भी स्थिति बढ़ जाती तब तो समझा जाता कि वह मोहनीयकी सहायता की अपेक्षा नहीं रखता है। यथा—

"ठिदि अणुभागा कसायदो होन्ति"

अर्थात्—स्थिति और अनुभाग प्रत्येक कर्म में कषाय से ही पड़ते हैं। इस लिये घातियों के अभाव में अघातिया कर्म असमर्थ हो जाते हैं, फिर भी अपनी स्थिति को पूरा करने के लिये वे ठहरे रहते हैं। यदि आयुकर्म की स्थिति थोड़ी हो तो समुद्घात होने पर शेष कर्मोंकी स्थिति भी घट जाती है। इस कार्यकारण की परिस्थिति से कर्मसिद्धान्त की व्यवस्था के अनुसार मोहनीय कर्म के अभाव में भी वेदनीय का उदय मानना हेतुवादपूर्ण है।

भगवान अर्हन्त के क्षुधादि बाधाऐं सर्वथा नहीं हो सकती हैं, इस विषय में चार ज्ञान के धारी गौतम गणधर लिखते हैं—

"दुःसहपरीषहाख्यद्रुततररंगत्तरंगभंगुरनिकरम्"

(क्रियाकलाप पृ० २८६)

अर्थात्—अर्हत भगवान के क्षुधा पिपासादि परीषहें सर्वथा नष्ट हो चुकी हैं।

क्रिया-कलाप के टीकाकार आचार्य प्रभाचन्द्र चैत्य-भक्ति आदि को श्री० गौतम गणधर कृत बताते हैं। इस लिये यह प्रमाण अतीव महत्वपूर्ण है।

इसी चैत्य-भक्ति में आगे यह भी लिखा है—

"निरामिषसुतृप्तिमद्विविधवेदनानां क्षयात्"

(क्रियाकलाप पृ० २८६)

यहां पर यह स्पष्ट किया गया है कि क्षुधादि विविध वेदनाओं का भगवान के क्षय हो चुका है। इस लिये निरामिष भोजन से होने वाली तृप्ति से विलक्षण तृप्ति—कवलाहार रहित तृप्ति भगवान के रहती है।

आचार्यवर्य यशोनन्दि ने पञ्च परमेष्ठी पाठ में अर्हन्त भगवान की नैवेद्य से पूजा बताते हुए लिखा है—

नानार्धचन्द्रशतरंध्रसुहासफेणी।
श्रेणीरसोद्धकलमौदनमोदकाद्यैः ॥
संपूजयामि चरणांबुरुभिर्जिनेशां।
ध्वस्तक्षुधां भवदवभ्रमतापशान्त्यै ॥

(पञ्चपरमेष्ठि पूजा पृ० १७)

अर्थात्—फेणी लाडू भात आदि से उन भगवान के चरणों की पूजा करता हूं जिनकी क्षुधा सर्वथा नष्ट हो चुकी है।

आचार्य शुभचंद्र ने आदि मंगल में ही भगवान अर्हन्त के निराहार विशेषण दिया है—

"निराहारं निरौपम्यं जिनं देवेन्द्रवंदितम्"

(सं० व० वि० पृ० १)

अर्थात्—जिनेन्द्र भगवान आहार रहित होते हैं।

इस सम्बन्ध में अधिक प्रमाण देना व्यर्थ है। दि० सिद्धान्तानुसार किसी भी दि० जैन शास्त्र से भगवान अर्हन्त के पिपासा क्षुधादि की बाधा सिद्ध नहीं हो सकती है। सभी शास्त्र उसके निषेधक हैं।

आगे प्रो० सा० ने आप्त-मीमांसा का श्लोक देकर यह सिद्ध करना चाहा है कि भगवान वीतराग होते हैं तो भी उनके सुख और दुःख का सद्भाव होता है। उनकी यह पंक्ति है—

"दूसरे समन्तभद्र स्वामी ने आप्त-मीमांसा में वीतराग के भी सुख और दुःख का सद्भाव स्वीकार किया है। यथा—

पुण्यं ध्रुवं स्वतो दुःखात्पापं च सुखतो यदि।
वीतरागो मुनिर्विद्वान् ताभ्यां युञ्ज्यान्निमित्ततः॥

इस आप्त-मीमांसा के प्रमाण को रखकर प्रो० सा० उससे भगवान के सुख और दुःख सिद्ध करने का जो प्रयत्न करते हैं उसे देखकर उनकी विचार-धारा, अन्वेषण-शक्ति, और खयाल पर बहुत भारी आश्चर्य होता है। जो कारिका आप्त मीमांसा की उन्होंने प्रमाण में दी है उसका अर्थ ही दूसरा है, जो बात वे कहते हैं उसका उससे कोई सम्बन्ध ही

नहीं है आप्तमीमांसा की कारिका का अर्थ हम यहां पाठकों की जानकारी के लिये प्रगट किये देते हैं। वह इस प्रकार है—

आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने दूसरे दर्शनों की उस मान्यता का खण्डन इस कारिका में किया है जो यह मानते हैं कि अपने आप को दुःख देने से तो निश्चय से पुण्यबन्ध आत्मा में होता है। और अपने आपको सुखी बनाने से आत्मा में पापबन्ध होता है। इस विचित्र दर्शन एवं मान्यता के खण्डन में आचार्य समन्तभद्र कहते हैं कि ऐसा मानना ठीक नहीं है। कारण यदि अपने आपको दुःख पहुंचाने से पुण्यबन्ध होता तो जो मुनिराज परम वीतरागी होते हैं वे भी काय क्लेशादि अनेक प्रकार के घोर तपश्चरण द्वारा दुःख साधनों को उत्पन्न करते हैं, तीव्र गर्मी के सन्तप्त पहाड़ पर तप करते हैं, तीव्र शीत में नदी के किनारे पर ध्यान लगाते हैं, यदि इस तपश्चरण रूप दुःखोत्पादन से पुण्यबन्ध ही होता हो तो कोई भी वीतरागी मुनि पुण्यबन्ध ही करता रहेगा, वैसी अवस्था में वह पुण्य-पाप रूप समस्त कर्मों का नाश कर मोक्ष को कभी नहीं जा सकेगा। परन्तु ऐसा नहीं है वीतरागी मुनि परीषहों को सहन करते हैं, उपसर्ग भी सहन करते हैं, समस्त कष्टों को सहन करते हैं, फिर भी वे पुण्य बन्ध नहीं करते हैं, किन्तु कर्मों की निर्जरा करते हैं। इस लिये अपने को दुःख पहुंचाने से पुण्यबन्ध होता है, यह मानना विरुद्ध है।

इसी प्रकार यदि अपने को सुख पहुंचाने से पापबन्ध

होता हो तो फिर विद्वान लोग अपने तत्वज्ञान से और शास्त्रों के रहस्य ज्ञान से पूर्ण सन्तोष लाभ करते हुए प्रसन्न और सुखी होते हैं सो उस तत्वज्ञानजन्य सुखसे उन तत्वज्ञानी विद्वानों को पापबन्ध होना चाहिये परन्तु यह भी विरुद्ध बात है। क्योंकि जो विद्वान तत्व विचार में निमग्न है। किसी प्रकार का वैर-विरोध, विकार, पर-पीड़ा आदि नहीं कर रहा है, बिना किसी दुर्भाव के वस्तु चिंतन एवं शास्त्राध्ययन में लगा हुआ है और तत्वज्ञानजन्य सन्तोष रूप सुख का अनुभव कर रहा है तो वैसी अवस्था में उसको पापबन्ध क्यों होगा? अर्थात नहीं होगा।

बस यही इस कारिका का स्पष्ट अर्थ है जो मूल कारिका के पदों से स्पष्ट है। इस कारिका का उक्त यही अर्थ विद्यानन्दि ने अष्टसहस्री में किया है।

परन्तु प्रो० सा० ने वीतराग भगवान के संसारी दुख सुख सिद्ध करने के लिये इस कारिका को प्रमाण में लिखा है। इस कारिका से तो वीतराग के सांसारिक सुख-दुख नहीं होते हैं, किन्तु पुण्य-पाप दोनों कर्मों का नाश होता है यह बात सिद्ध होती है। इस कारिका के अर्थ को वे समझ लेते तो फिर यह प्रमाण देकर अपने कथन की स्वयं विरुद्धता उन्हें स्वीकार नहीं करनी पड़ती। उनके इस प्रमाण से विदित होता है कि वे कम से कम आप्त-मीमांसा को तो प्रमाण मानते हैं। तभी तो यह प्रमाण उन्होंने दिया है परन्तु उनके दिए

हुए प्रमाण से ही वीतराग अर्हंत भगवान के सुख दुख का अभाव सिद्ध होता है।

पुराण शास्त्रोंमें भी प्रो० सा० के मन्तव्योंका खण्डन ही पाया जाता है।

स्त्रीमुक्ति, सवस्त्रमुक्ति और केवली कवलाहार, इन तीनों बातों का खण्डन कर्मसिद्धांत एवं गुणस्थान चर्चा के आधार पर तो हम बहुत विस्तार के साथ कर चुके हैं। इसके सिवा प्रथमानुयोग शास्त्रों में मोक्ष जाने वाले केवलियों का सर्वत्र वर्णन किया गया है।

पाण्डवों को तातेर भूषण पहना कर उपसर्ग किया गया, देशभूषण कुलभूषण को व्यंतरों ने उपसर्ग किया, गजकुमार मुनि के सिर पर जलती हुई सिगड़ी रक्खी गई, सुकौशल को सिंहनी ने भक्षण किया उन उपसर्गों को जीत कर उन्हें केवलज्ञान हुआ। इसके सिवा कोई अमुकस्थानमें पटके गये। संजयत मुनि को नदी में पटका गया और उसी समय उन्हें केवलज्ञान हुआ। कोई खड्गासन से मोक्ष गये। कोई एक वर्ष तक घोर तपश्चरण करते रहे। आदिनाथ भगवान ने छहमास आहार का त्यागकर दिया पुनः छहमास अंतराय रहा बाहुबलि एक वर्ष तक ध्यान में लीन रहे। भरत भगवान को कपड़े उतारते २ केवलज्ञान अन्तर्मुहूर्त में होगया। अमुक केवली भगवान ने अमुक २ स्थानों पर विहार किया। अमुक अमुक ने गिरनारि, चम्पापुर, पावापुर कैलास आदि से मोक्ष

प्राप्त किया। समोसरण की रचना, भगवान का सिंहासन से चार अंगुल ऊंचे विराजमान रहना, चौंतीस अतिशयों का प्रगट होना, दिव्य ध्वनि का खिरना, अमुक २ तीर्थंकरों के इतने गणधर थे। समोसरण में इतने मुनि, इतनी अर्जिकाएँ श्रावक श्राविकाएँ थी इत्यादि बातों का बहुत विशद वर्णन प्रथमानुयोग-पुराण शास्त्रों में सर्वत्र पाया जाता है। परन्तु अमुक स्त्री पर्याय से मोक्ष गई। अमुक कपड़े पहने २ केवल-ज्ञान को प्राप्त हुआ। अमुक केवली ने कवलाहार किया, या अमुक केवली को भूख प्यास की बाधा हुई और वे अमुक के घर आहार को गये या उन्होंने समोसरण में ही आहार मगाया इत्यादि—

ऐसा वर्णन किसी भी दि० पुराण शास्त्र में नहीं पाया जाता है। यदि प्रो० सा० के मन्तव्यानुसार दिगम्बर शास्त्रोंके अनुसार भी स्त्री मुक्ति, सवस्त्र मुक्ति और केवली कवलाहार मान्य होते तो उनका वर्णन किसी भी तीर्थंकर के शासनकाल में किसी भी पुराण शास्त्र में अवश्य पाया जाता। परन्तु दिगम्बर शास्त्रों में तो भरत महाराज को घरमें भी परमोत्कृष्ट वैराग्य बताते हुए भी यही बताया है कि जब जंगल में गये और कपड़े उन्होंने उतार डाले वे नग्न दिगम्बर बन गये तभी उन्हें केवलज्ञान हुआ।

स्त्री पर्याय को सभी शास्त्रों में निंद्य बताया है और स्त्री-लिंग का सर्वथा छेद कर देव पर्याय पाने के पीछे पुरुषलिंग

से ही अमुक २ ने मोक्ष प्राप्त की, ऐसा ही सभी पुराणों में कथन पाया जाता है। आदिनाथ भगवान ने अपनी पुत्री ब्राह्मी और सुन्दरी से कहा था कि तुम इस स्त्री-पर्यायसे मोक्ष नहीं पा सकती हो।

केवली भगवान के परम शुद्धि और दिव्य औदारिक शरीर, अनन्त अचिन्त्य गुणों का प्रगट होना, अनेक अतिशय प्राप्त होना आदि बातों का वर्णन है।

इस लिये यदि प्रोफेसर साहब के तीनों मन्तव्य दिगम्बर शास्त्रोंसे भी सिद्ध होते तो उनका वर्णन पुराण शास्त्रों में भी कहीं तो पाया जाता, परन्तु वैसा वर्णन किसी भी प्रथमानुयोग शास्त्र में नहीं पाया जाता। प्रत्युत उन प्रथमानुयोग शास्त्रों में भी उक्त तीनों मन्तव्यों का सर्वत्र स्पष्ट खण्डन मिलता है। इस लिये दि० सिद्धान्तानुसार कर्मसिद्धांत और गुणस्थानों के आधार पर उक्त तीनों मन्तव्य किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं हो सकते हैं। और दिगम्बर शास्त्रों में सर्वत्र उन का खण्डन किया गया है।

अधिक लिखना अनावश्यक समझकर प्रो० सा० से हम यह आशा करते हैं कि वे अपने मिथ्या मन्तव्यों को आगम, युक्ति एवं अनुभव विरुद्ध समझकर छोड़ देंगे। इतना ही नहीं किन्तु निष्पक्ष एवं सरल भावों से अपने भ्रमपूर्ण अभिप्रायों का परित्याग कर समाज के समक्ष वैसी घोषणा कर देंगे।

विकल्मषमनेकान्तं वस्तुतत्त्वप्रकाशकम्।
अनाद्यनन्तसंसिद्धं जीयाद्दैगम्बरं मतम्॥

मक्खनलाल शास्त्री,
सम्पादक-जैनबोधक, मेम्बर-ओकाफ कमेटी
ग्वालियर राज्य

हमारी सम्मति

काल दोष से विगत २५ वर्षों में सर्वज्ञ-प्रणीत दि० जैन आगम पर उसी के अनुयायी महानुभावों द्वारा ऐसे ऐसे भीषण आक्षेप किये गये हैं जिनसे कि दि० जैनधर्म की मूल मान्यताओं को गहरी ठेस पहुंची है। यह समय बुद्धिवाद का है, श्रद्धा की उत्तरोत्तर हानि होती जा रही है, अतः कुमतिज्ञान के प्रभाव से लोग बुद्धि-विभ्रम में फंसकर किसी भी नये मार्ग को सहज अपना लेते हैं। यही कारण है कि आज दि० जैन धर्मानुयायी भी सत्यपन्थ को छोड़कर विभिन्न २ मान्यताओं के अनुयायी बन गये हैं और बनाये जा रहे हैं। नाना प्रकार की नई नई मान्यतायें और नई नई प्रकट होने लगी हैं। बा० अर्जुनलालजी सेठी और पं० दरबारी लाल जी सत्यभक्त के आगम-विरोधी विचारों को तो अभी तक समाज भूला नहीं था कि धवलाके संपादन से प्रसिद्धि प्राप्त प्रो० हीरालाल जी ने दि० जैनधर्म के अस्तित्व का ही विलोप करना प्रारम्भ कर दिया है। उनकी समझ मे श्वेताम्बरधर्म ही पुरातन और सर्वज्ञप्रणीत है।

यद्यपि इस प्रकार के स्वतन्त्र विचार प्रमाण सिद्ध दि० जैन आगम को तो कुछ भी धक्का नहीं पहुंचा सकते परन्तु धवला टीका के सम्पादन से जिनके विचारमें प्रोफेसर साहब का सम्मान जम गया है और जो उनके सैद्धान्तिक ज्ञान से प्रभावित हो गये हैं उनके श्रद्धान में अवश्य अन्तर आ सकता

है। अतः ऐसे लोगों के स्थितिकरण के लिये बम्बई पंचायत का यह प्रयत्न अवश्य श्लाघनीय है जो उसने सभी विद्वानोंको ट्रैक्ट लिखने को आमंत्रित किया है।

अनेक ट्रैक्ट लिखने के बजाय जैनधर्म के मर्मज्ञ एवं प्रकाण्ड विद्वानों द्वारा युक्ति और प्रमाण पूर्ण थोड़े से लेख ही पर्याप्त हैं। इसी सदाशय से हम लोग अलग २ न लिखकर श्रीमान सम्माननीय विद्यावारिधि, वादीभ केसरी, न्यायालं-कार, धर्मवीर पं० मक्खनलाल जी शास्त्री महोदय के इस ट्रैक्ट पर अपनी सम्मति प्रकट किये देते हैं कि हम इस ट्रैक्ट के विषय से पूर्ण सहमत हैं।

माननीय शास्त्री जी ने उक्त ट्रैक्ट बहुत शास्त्रीय खोज श्रम और विद्वत्तापूर्ण लिखा है। इसमें प्रो० सा० की स्त्री-मुक्ति, सवस्त्र-संयम और केवली-कवलाहार इन तीनों मान्य-ताओं का सप्रमाण और सयुक्तिक खण्डन किया गया है।

हम समझते हैं कि यदि प्रो० सा० को वास्तव में तत्व-जिज्ञासा है तो वे इसे पढ़कर अपने विचार को अवश्य छोड़ देंगे और अपने विचार परिवर्तन को व्यक्त करेंगे।

१- कुञ्जीलाल शास्त्री न्याय काव्यतीर्थ,

२- नाथूलाल शास्त्री, काव्यरत्न,

३- कविराज अजितवीर्य शास्त्री, आयुर्वेदाचार्य,

ज्योतिषतीर्थ, यंत्र-तंत्र-मंत्र विद्याविशारद

श्री गोपाल दि० जैन सि० विद्यालय मोरेना (ग्वालियर)

प्रोफेसर सा० के मन्तव्यों पर हमारा अभिमत

वर्तमान समय में हमारी समाज के कतिपय विद्वान आचार्यों के वचनों को अप्रामाणिक सिद्ध करने में प्रवृत्ति करते हुए देखे जारहे हैं। इस लिये हमारे दि० जैन धर्म का माहात्म्य दिनों दिन घटता जा रहा है।

हमें दुःख है कि अभी हाल ही में प्रो० हीरालाल जी सा० ने दिगम्बर आम्नाय के मूलभूत सिद्धान्तों के विरुद्ध स्त्रीमुक्ति, सवस्त्रमुक्ति, केवली कवलाहार, इन बातों को दि० शास्त्रों से ही सिद्ध करने का विफल प्रयास किया है। यद्यपि प्रोफेसर सा० दिगम्बर धर्म के ही अनुयायी हैं साथ ही में उन्होंने दि० सिद्धान्तों के प्रधान ग्रन्थ "धवल सिद्धान्त" का सम्पादन भी किया है। ऐसे योग्य विद्वान् होते हुए भी दि० सिद्धान्त के विपरीत बातों को सिद्ध करने का प्रयास कैसे कर डाला यह एक आश्चर्य और खेद की बात है।

इसके उत्तर में समाज में अपनी अनुभवपूर्ण लेखनी के लिये प्रसिद्ध एवं प्रतिष्ठित धुरन्धर विद्वान् विद्यावारिधि वादीभ केसरी न्यायालंकार धर्मधीर पूज्य पं० मक्खनलाल जी शास्त्रीने सप्रमाण सयुक्तिक ट्रैक्ट रूप में उपर्युक्त तीनों बातों बातों का अच्छी तरह से खण्डन कर मूलभूत दि० सिद्धान्तों को निःशङ्कित कर दिया है।

यह ट्रैक्ट दि० जैन समाज के लिये अत्युपयोगी है क्योंकि पं० जी ने पूर्ण विद्वत्ता द्वारा दि० जैन शास्त्रों के प्रमाणों से एवं सुयुक्तियों से सरल रूप में उक्त सिद्धान्त को सर्व साधारण के लिये सुलभ कर दिया है। हमें विश्वास है कि समाज इस ट्रैक्ट को पढ़ कर प्रो० सा० के मन्तव्यों को सर्वथा विपरीत समझ कर दि० जैन सिद्धान्तों में निःशंकित और अटल प्रवृत्ति रखेगी।

अन्त में प्रो० सा० से हमारा निवेदन है कि वे इस ट्रैक्ट को पढ़ कर अपने मन्तव्यों को बदल कर यथार्थ सिद्धान्त सर्वसाधारण जनता में प्रगट करने की कृपा करें।

बालमुकुन्द शास्त्री,
मल्लिनाथ जैन शास्त्री न्यायतीर्थ,
सुमतिचन्द्र शास्त्री, मोरेना

यह पुस्तक केवल एक अंश है--इसका अग्रिम भाग तैयार हो रहा है।

श्रीमान मान्यवर प्रो० डाक्टर हीरालाल जी एम० ए० के जो मन्तव्य पुस्तक के प्रारम्भ में छपे हुए हैं, उनके उत्तर में अनेक पूज्य त्यागियों के (जिनमें आचार्य, क्षुल्लक, ब्रह्मचारी जी भी हैं) तथा अनेक ख्यातनामा विद्वानों के युक्ति आगमपूर्ण सुन्दर उत्तर प्राप्त हो चुके हैं और छप रहे हैं। पाठक महानुभाव उन सब उत्तरों को एक ही ग्रन्थ में अवलोकन करने की प्रतीक्षा करें। ग्रन्थ शीघ्र आपके समक्ष आ जावेगा। यह पुस्तक तो उस ग्रन्थ का आद्य एक अंश है।

—प्रकाशक